निवेदन

मुगल बादशाहों की हिंदी में आपको दिखाई देगी कि उर्दू कब और 'क्योंकर पैदा हुई'। पर इतने से ही आपको संतोष न होगा। इसलिये आपकी जानकारी के लिये इतना और निवेदन कर देना है कि उर्दू वस्तुतः मुगल शाहज़ादों की घरबनी चीज थी जो फारसी के उठ जाने पर आई और परदेशबंधुओं की कृपा से दरबार में दिखाई देने लगी। जो लोग उर्दू को 'बाजार' और 'लश्कर' की उपज समझते और हिंदूमुसलिम-मेल का चिन्ह मानते हैं उन्हें इस निबंध को तनिक ध्यान से पढ़ना चाहिए और आँख खोलकर यह प्रत्यक्ष देख लेना चाहिए कि भाषा के संबंध में समर्थ मुगल बादशाहों की नीति क्या थी; क्यों उन्हें हिंदी अथवा ब्रजभाषा ही भाती थी और क्यों उसी को वे लोग प्रमाण मानते थे। शाह हातिम ने क्यों 'शिष्टभाषा' को छोड़कर 'मिर्ज़ा-यानेहिंद' और 'फ़सीहाने रिंद' की भाषा को प्रमाण माना और परंपरागत हिंदी भाषा का बहिष्कार किया—इसका संकेत भी आपको यहाँ मिलेगा। पर एक बात की जिज्ञासा का समाधान इस निबंध से न हो सकेगा। अतएव उसकी भी चर्चा यहाँ हो जाय तो अच्छा हो।

यह तो कहने की बात नहीं रही कि मुगल बादशाहों की हिंदी में गानों की प्रधानता है और सभी गाने में मग्न दिखाई देते हैं। मुगलों की इस संगीतप्रियता को समझने के लिये यह जान लेना परम आवश्यक है कि मुगल बादशाहों के पहले पठानों के शासन-काल में संगीत की क्या दशा थी। संगीत के प्रसंग में ग्वालियर के राजा मानसिंह का नाम भुलाया नहीं जा सकता, यह उन्हीं

की संगीत-निष्ठा का प्रसाद है कि ग्वालियर संगीत का केंद्र बना और 'ग्वालियरी' (व्रजभाषा) संगीत की शिष्ट भाषा बनी। साथ ही हमें गुजरात के बहादुरशाह को भी सदा याद रखना चाहिए। उसने राजा मानसिंह के अखाड़े को उखड़ने नहीं दिया और वह सदा संगीत का आश्रय बना रहा। जौनपुर और बंगाल के हुसैनशाहों ने भी इस क्षेत्र में कुछ कम काम नहीं किया। उनकी कृपा से पूरब में भी इस संगीत भाषा का प्रसार हो गया।

एक बात और। अपने इतिहास की अनभिज्ञता के कारण लोग 'दक्खिनी' (भाषा) के विषय में विलक्षण कल्पनाएँ कर रहे हैं और उसके प्रचार का श्रेय कभी अलाउद्दीन खिलजी (मलिक काफूर की दक्षिण यात्रा) को देते हैं तो कभी मुहम्मद तुगलक के दौलताबाद को। यहाँ विवाद और विस्तार की आवश्यकता नहीं। संक्षेप मे इतना ही बहुत है कि दक्षिण मे हिंदी का प्रचार इसलाम से पहले ही हो गया था और देवगिरि में अलाउद्दीन के समय में भी गोपाल नायक का बोलबाला था। गोपाल नायक और अमीर खुसरो का संगीती संघर्ष अति प्रसिद्ध है। जो लोग संगीत परंपरा से परिचित हैं उन्हें व्रजभाषा का महत्व स्वतः मान्य हो जायगा। शेष को इस निबंध से कुछ लाभ पहुँचेगा।

संभव है कुछ लोगों को इस निबंध मे त्रुटियाँ दिखाई पड़ें; किंतु यदि इससे सत्य का किंचित् बोध और हिंदी का कुछ भी हित हो सका तो मैं इस श्रम को सफल समझूँगा और उन लोगों के प्रति कृतज्ञ भी हो सकूँगा जिनका उल्लेख जहाँ-तहाँ किया गया है। अन्यथा बालपन तो बाँटे मे ही पड़ा है।

काशी
मार्गशीर्ष अमावस्या
१९९७

चंद्रबली पांडे

मुगल बादशाहों का शासनकाल

सन् ई० में

(१) जहीरउद्दीन मोहम्मद बाबर	१५२६ से १५३० तक
(२) नूरउद्दीन मोहम्मद हुमायूँ	† १५३० से १५५६ तक
(३) जलालउद्दीन मोहम्मद अकबर	१५५६ से १[illegible] तक
(४) नूरउद्दीन मोहम्मद जहाँगीर	१६०५ से १६२७ तक
(५) शहाबुद्दीन मोहम्मद शाहजहाँ	१६२७ से १६५८ तक
(६) मुहीउद्दीन मोहम्मद औरंगजेब	१६५८ से १७०७ तक
(७) मोहम्मद मुअज्जम बहादुर शाह	१७०७ से १७१२ तक
(८) मोहम्मद जहाँदारशाह	१७१२ से १७१३ तक
(९) फर्रुखसियर बादशाह	१७१३ से १७१९ तक
× रफीउद्दरजात	१७१९
× नेकुसियर	१७१९
× रफीउद्दौला	१७१९
(१०) मोहम्मदशाह बादशाह	१७१९ से १७४८ तक
× मोहम्मद इब्राहीम शाहजहाँ सानी	१७२०
(११) अहमदशाह बादशाह	१७४८ से १७५४ तक
(१२) जहीरउद्दीन आलमगीर सानी	१७५४ से १७५९ तक
(१३) आली गौहर शाहआलम सानी	१७५९ से १८०६ तक
(१४) मोहम्मद अकबर सानी	१८०६ से १८३७ तक
(१५) बहादुरशाह सानी	१८३७ से १८५८ तक

((९) से (१०) तक: सैयद बंधुओं का प्रभुत्व)

× नाममात्र के क्षणिक शासन के कारण इनकी गणना शासकों में नहीं हुई।

† सन् १५४० से १५५५ ई० तक सूरियों का राज्य रहा।

मुगल बादशाहों की हिंदी

आने को तो अमीर तिमूर भी अपनी डरावनी सूरत दिखा गए थे पर हिंद में मुगल-शासन की स्थापना जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर ने की। बाबर कहाँ तो रोटी पानी की खोज में इधर उधर भटक रहा था कहाँ निमंत्रण पा भारत का भाग्यविधाता बन बैठा और कुछ ही दिनों में उसने वह कर दिखाया कि हिंदी के अनूठे मुसलिम कवि मलिक मुहम्मद जायसी को उसकी प्रशंसा में खुलकर कहना ही पड़ा—

"बाबर साह छत्रपति राजा। राज-पाट उन कहँ विधि साजा॥
मुलुक सुलेमाँ कर ओहि दीन्हा। अदल दुनी ऊमर जस कीन्हा॥
अली केर जस कीन्हेसि खाँड़ा। लीन्हेसि जगत समुद भरि डाँड़ा॥
बल हमजा कर जैस सँभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहुँ बाद करि बादी॥
बड़ परताप आप तप साधे। धरम के पंथ दई चित बाँधे॥
दरब जोरि सब काहुहि दिए। आपुन विरद आउ-जस लिए॥

राजा होइ करै सब, छाँड़ि जगत महँ राज।
तब अस कहैं मुहम्मद, वै कीन्हा किछु काज॥"[1]

१—जायसी ग्रंथावली (आखिरी कलाम), रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय संस्करण, सन् १९३५ ई०, पृ० ३८९।

बाबर ने बादशाह बनकर जो 'कुछ काज' किया उससे यहाँ हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमे तो यहाँ यह देखना है कि उसकी यह 'मोगली' बादशाही हमारी हिंदी के लिए कहाँ तक हितकर सिद्ध हुई और फिर क्यो आगे चलकर उसकी संतानो ने बादशाही के साथ ही साथ हिंदी को भी छोड़ दिया।

अच्छा, देखिए। बाबर बादशाह का दरबार लगा है। इब्राहीम लोदी का कटा हुआ सिर उसके सामने है। सहसा किसी की वाणी फूट पड़ती है—

"नौ सै ऊपर था बत्तीसा, पानीपत में भारत दीसा।
अठई रज्जब सुकरवारा, बाबर जीता बराहीम हारा॥"[१]

किंतु क्या विदेशी बाबर के कानों मे इसकी कोई ध्वनि सुन पडी? उस बेचारे के लिये तो यह विदेशी भाषा एक पहेली थी। अपनी विवशता और संकट का संकेत करते हुए उसने स्वतः लिखा है—

"न हम यहाँ की बोली समझ सकते और न यहाँ वाले हमारी जबान जानते हैं।"[२]

१—ए हिस्ट्री ऑव पर्शियन लैंग्युएज एंड लिटरेचर एट दी मुगल कोर्ट, मुहम्मद अब्दुलग़नी, एम० ए०, एम० लिट्०, इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, सन् १९२९ ई०, पृ० ६१।

२—मुग़ल और उर्दू, अदीबुल-मुल्क नवाब सैयद नसीर हुसैन ख़ाँ, अहे जदीद प्रेस, ७०, फियर्स लेन, कलकत्ता, एम०ए० उसमानी एंड संज़, पृ० ३

आगे चलकर आगरे के प्रसंग में वह फिर कहता है—[1]

"हमारे आदमियों के लिये यहाँ की जबान नई है और व इससे भड़क रहे हैं।"[1]

बाबर जैसे अनुभवी बादशाह को यह जान लेने में कुछ देर न लगी कि यदि उसके आदमियों की यह 'भड़क' बनी रही तो भारत शीघ्र ही हाथ से निकल जायगा और फिर हाथ मलने के सिवा और कुछ हाथ नहीं रह जायगा। निदान एक दिन उसने भी सँभलकर कहा और कितना सटीक कहा—

"मुजका न हुआ कुज हविस मानिक व मोती।"[2]

पर इसके आगे यहाँ की भाषा में बढ़ न सका। उसकी जबान से जन्मभाषा तुर्की में चट निकल पड़ा—

"फ़ुक़रा हलुयीगुह वस वो लग़ो सैदूर।"[3]

किंतु उसकी चेतना ने फिर उसे फटकारा और उल्लास के साथ सहसा उसके मुँह में आ गया—

"पानी व रोती"

पानी को तो अहिंदी कहने का साहस किसी को न हुआ, पर 'रोटी' को अहिंदी कहनेवाले बहुत से लोग निकल आए।

१—मुग़ल और उर्दू, वही, पृ० ३।

२—वही, पृ० ५।

३—[illegible] वही, पृ० ५। संभवतः इसका अर्थ है कि फकीरों के लिये एक टुकड़ा रोटी और एक पुरवा पानी बस है।

यहाँ तक कि हिंदी-साहित्य सम्मेलन के गत अट्ठाइसवें अधिवेशन (सन १९३९ ई०) मे राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापति बाबू राजेंद्र प्रसाद ने काशी की नागरीप्रचारिणी सभा की छाया मे यह स्पष्ट कह दिया—

"कौन कह सकता है कि 'रोटी', जिसके बिना हम रह नहीं सकते, हिंदुस्तान मे कहाँ से आई और इसका असली रूप क्या था ? सुना है कि यह तुर्की शब्द है। इसी तरह कौन सोचता है कि 'आग' और 'पानी' संस्कृत से निकले हैं ? अब इनको कौन उर्दू से निकाल सकता है ? साथ ही यह भी जाहिर है कि 'रोटी' तुर्की व्याकरण और 'आग', 'पानी' संस्कृत व्याकरण का सहारा अब नहीं ले सकते। उनको तो हिंदी उर्दू के रास्ते पर ही चलना है।"[1]

'हिंदी उर्दू के रास्ते' के विषय मे हम अभी कुछ नहीं कहेंगे। हाँ, प्रसंगवश जानकारी के लिये इतना निवेदन अवश्य कर देंगे कि उर्दू के 'रास्ते' का हमे कोई ठीक पता नहीं, पर इतना अवश्य जानते हैं कि उसका सच्चा संबंध हमारे देश के दलित बावरी लोगों से ही है। रही 'रोटी' की बात। सो उसके विषय में हमें कहना यह है कि वह शुद्ध हिंदी शब्द है। तुर्की, अरबी या फारसी से उसका कोई संबंध नहीं। क्या कोई सज्जन यह बता देने की कृपा करेंगे कि रोटी का फारसी, अरबी या तुर्की बहु-वचन क्या है और कहाँ किस पुस्तक में, किस रूप मे उनको वह

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् १९९६ वि०, पृ० ३०५।

दिखाई देता है ? हम तो यही कहेंगे कि कोई भी भाषाविद् रोटी को तुर्की नहीं कह सकता। उर्दू के कोश [१] और मुसलिम साहित्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रोटी वस्तुतः हिंदी है। बाबर के मुँह में जो वह 'रोती' के रूप में दिखाई देती है उसका कारण कुछ और ही है। सुनिए, एक हिंदी स्त्री किसी चहेते से छनककर कहती है—

"… …तेरी माँ गोली तेरा बाप चमार।
झूठ तुझ थैं बहुत सुना मत बोल।
सच तेरा हौं कहौं मरा मत मार,
तुझ थैं मुझको न रोती व पानी,
तुझ थैं मुझको नहीं सवार सिंगार
अब न रहौं तेरे खुदा की सौं,
निकलूँगी तुम्हारे घर थैं बाहर॥" [२]

यहाँ भी वही रोती पानी है जो बाबर के यहाँ। किंतु दोनों में भेद यह है कि यदि बाबर के यहाँ टवर्ग का अभाव है तो 'इश्क़ी' की 'जनेहिंदी' की सच्ची भाषा के लिये मुसलिम के यहाँ सच्ची लिपि की कमी। इसलिये बाबर की तरह 'इश्क़ी' की हिंदी स्त्री भी रोटी न कहकर 'रोती' ही कहती है, नहीं तो 'रोती'

१—उर्दू के कोशकारों ने रोटी को हिंदी भाषा का शब्द लिखा है। 'ख़ालिकबारी' में भी उसे हिंदवी ही कहा गया है।

२—ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, हिस्सा अव्वल, ओरियंटल कालेज, लाहौर से प्रकाशित। अगस्त सन् १९३१ ई०, पृ० १०४।

किसी 'तुर्की' का शब्द नहीं। वह सचमुच हिंदी भाषा का शब्द है।

बाबर ने हिंदी भाषा के लिये क्या कुछ किया, इसका ठीक ठीक पता नहीं। अपनी जन्म-भाषा तुर्की पर उसकी जो ममता थी वह भी हमारे काम की नहीं। हमें तो यह बताना है कि बाबर मरा और उसकी गद्दी उसके प्राणप्रिय पुत्र हुमायूँ को मिली। हुमायूँ जैसे उदार शासक के लिये जमकर शासन करना कुछ खिलवाड़ न था कि अपने आप तो पोथियों में पड़ा रहता और भले भाई शासन की बागडोर चुपचाप उसी के हाथ में पड़ी रहने देते और अपने मनसूबे को कुछ हराभरा न करते। साथ ही पठानों का रक्त भी इतना ठंढा नहीं हो गया था कि कभी बादशाहत के लिये उसमें जोश ही नहीं आता। अतः फल यह हुआ कि प्यारे भाइयों ने विद्रोह किया और पठान शेरशाह ने समय पाकर उसे हिंद के बाहर खदेड़ दिया। हुमायूँ सचेत हुआ, पुनः चढ़ आया और फिर हिंदुस्तान का बादशाह बना। पर राज्य का सुख भोगने के लिये अधिक दिन तक जीवित न रह सका। उसका राज्यसुख झलक दिखाकर लुप्त हो गया। इस आँखमिचौनी के शासन में कुछ ठिकाने से हो पाता तो आज हुमायूँ के न जाने कितने हिंदी के ग्रंथ होते। पर दुर्भाग्यवश उसका कोई पद्य हमारे सामने नहीं है।

हुमायूँ के दरबारी कवियों में कुछ ऐसे भी फारसी के कवि थे जो हिंदी में रचना करते थे और हिंदी-गीतों को बड़े प्रेम से अपने प्रभु के सामने गाते थे। उनमें शेख अब्दुल वाहिद बिल-ग्रामी और शेख गदाई देहलवी मुख्य थे। किंतु खेद है कि

इनकी कोई भी हिंदी रचना अभी तक हमारे सामने नहीं आई। हाँ, एक ऐसे हिंदू कवि की एक रचना हमें प्राप्त है जो हुमायूँ के दरबार में था। उसको देखने से जान पड़ता है कि हुमायूँ के दरबार में शुद्ध हिंदी कवियों का स्वागत हो रहा था और बादशाह हुमायूँ की दृष्टि इधर भी कुछ कम न थी। हुमायूँ की देखरेख में हिंदी को जो महत्त्व मिला उसका प्रभाव फारसी पर भी भरपूर पड़ा। फारसी कविता कुछ हिंदी भी हो चली।

हुमायूँ के हिंदी कवि 'छेम' का एक छप्पय लीजिए और देखिए कि अली की वीरता का कितना सदर्प वर्णन है। खैबर के संग्राम के लिये वीर अली सन्नद्ध होते हैं और

"धरनि धरनि थरहरत, डरनि रथ तरनि पलट्टेहु।
धूमधाम ध्रुवलोक सोक सुरपति अतिपट्टेहु।
गवन रहित सम्मीर नीर नदनदी निघट्टेहु।
करि निकर डिक्करि चिक्करि कहरि खैबर पर चट्टेहु।
हिमगिरि सुमेर कैलास डिग, तव हहरि हहरि संकर हँस्यो।
'छेम' कोपि हजरत अली, जब जुल्फकार कम्मर कस्यो॥"[1]

हुमायूँ के प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है। कहा जाता है कि गुजरात की विजय के बाद जब पापी रूमी खाँ हुमायूँ के दरबार में दाखिल हुआ तब उसको देखकर

१—शिवसिंह सरोज, सम्रहकर्त्ता ठाकुर शिवसिंहजी सेंगर, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सातवाँ संस्करण, सन् १९२६ ई०, पृ० १०२।

विजित बहादुर शाह का पालतू सुग्गा, जो उस समय हुमायूँ के अधीन था, हिंदी भाषा मे बोल उठा—

"फट पापी रूमी खाँ नमकहराम। फट पापी नमक हराम।"[1]

इसको सुनकर बादशाह ने कहा कि रूमी खाँ! क्या करूँ। पक्षी है, नहीं तो इसकी जबान मुँह से बाहर खींच लेता।

रूमी खाँ की नमकहरामी की कहानी सुग्गे के कान मे पड़ चुकी थी। उसके मुँह से चट वही फटकार निकल पड़ी जो बहादुर शाह के यहाँ उसे दी जाती थी।

खैर, हुमायूँ को खदेड़कर शेरशाह हिंदुस्तान का बादशाह हुआ तो हिंदी को और भी महत्त्व मिला। शेरशाह वस्तुतः हिंदी था। हिंद से उसकी बड़ी ममता थी। 'फरीद' के अपने पुराने प्रिय नाम से वह फारसी की तरह हिंदी मे भी कविता करता था। अपनी मुद्राओ पर नागरी को स्थान देता था। शुद्धता के लिये फारसी के फरमान तक भी फारसी के साथ ही साथ नागरी[2] अक्षरों में भी लिखे जाते थे। पर काल की कठोरता के कारण आज हमारे पास उसकी कोई हिंदी कविता नहीं है। संभव है, खोजियों की कृपा से कभी वह भी हमारे सामने आजाय और हम शेरशाह के सच्चे भाव को ठीक ठीक समझ सके।

१—ए हिस्ट्री ऑव पर्शियन लैंग्युएज एंड लिटरेचर एट दी मुगल कोर्ट, मुहम्मद अब्दुलगनी, एम. ए, डी लिट्, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद द्वितीय भाग, १९३० ई०, पृ० ११६।

२—नागरी अक्षरों मे फारसी फरमान लिखने की प्रथा लोदियों में भी थी। इसके लिये देखिए ओरियंटल कालेज, लाहौर की उर्दू मैगजीन, मई सन् १९३३ ई०, पृ० ११६।

हिंदी के पाठकों से कदाचित यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के मुसलिम कवियों के शिरोमणि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी 'पदमावत' में शेरशाह की जो प्रशंसा की है वह भँड़ैती नहीं है। वह तो जायसी के हृदय की बात है। एक योग्य शासक की योग्यता का उपहार है। उसके विषय में याद रखिए कि मलिक मुहम्मद ने कुछ पाने के लिए नहीं लिख दिया कि

"दीन्ह असीस 'मुहम्मद', करहु जुगहि जुग राज।
बादशाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज॥"[१]

अथवा

"सब पृथिवी सीसहि नई, जोरि जोरि कै हाथ।
गंग जमुन जौ लगि जल, तौ लगि अम्मरनाथ॥"[२]

बल्कि उसके गुणों पर रीझकर अपने सच्चे हृदय से लोक के मंगल के लिए उसे यह आशीर्वाद दिया।

किंतु जब मूल ही नहीं तब डाल को सींचकर कहाँ तक पल्लवित कीजिएगा ? जब शेरशाह की कोई रचना सामने नहीं तब उसका गुणगान ही क्या ? इसलिये उसे यहीं छोड़िए और तनिक उसके औरस असलेम शाह की कविता का आनंद उठाइए। सौभाग्य से उसके दो एक पद प्रकाशित हो गए हैं और आज भी सूरियों की हिंदीनिष्ठा की साखी दे रहे हैं।

१--जायसी ग्रंथावली, (पदमावत), वही, पृ० ६।
२--जायसी ग्रंथावली, (पदमावत), वही, पृ० ७।

विरह की बात किसे नहीं भाती ! समय पर पत्थर भी तो रोना चाहता है। फिर असलेम शाह विरह की धूनी क्यों न रमाएँ ? उनकी वियोगिनी कहती है—

"ए जेते दिन अनमिल गए तिय पिय
बिन मोकों तेते दिन मेरे आन लेखे।
और जो तपत वाके तन के तिनके सुख को
अँके भुज भर चाहत नैन कहे कब देखे॥
न पीय पाती पठाई न आवन कीनो
मेरी एक न भई हो रही है रखे भेखे।
'असलेम शाह' पिय जी की ना
समझत जोवन जात परेखे॥"[1]

कुछ समझ बूझकर किसी तरह पिय आ तो गए, पर अपने साथ एक और ही बला मोल लाए जो रिझाने की जगह खिझाने का काम कर गई। देखिए न, उस बेचारी (असलेम शाह की) नायिका पर क्या बीत रही है और किस ढंग से अपना दुखड़ा रो रही है। वह कहती है

"पुन कैसेक दुरत हो तुम अपनों सो
करहो दुराव केतोहू ललन डरत।
और काहू बूझत देख धौं पीतम ए
जो अनकहे देत जो गाजे हो समै मूरत॥

1--संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, कृष्णानन्द 'रागसागर' द्वारा विरचित। वंगीय साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, सं० १९७१ वि०, पृ० ३०३।

अरसाने नींदन अघाने वाके पीतम सों
नैन पाए याते थोरे ढरत सूरत।
'असलेम साह' येह जान पार मोसो
सुधहि बिन जानो तुरत ॥"[१]

अस्तु, हम देखते है कि हुमायूँ के अभाव मे देहली दरबार हिंदी को और भी प्रोत्साहन देता है और सूरियों के शासन में वह और भी संपन्न हो जाती है। जब हुमायूँ फिर हिंदुस्तान का शासक हो जाता है तब हिंदी विद्या और हिंदी रंगढंग को और भी महत्त्व देता है। पर अचानक एक दिन पुस्तकालय की सीढ़ियों से लुढ़कता हुआ गिरता और हिंदुस्तान की बादशाहत अपने पोगंड बच्चे अकबर के लिये छोड़ जाता है।

भारत अकबर का जन्मदेश है। अकबर को उत्पन्न करने का गर्व इसी भारत-भूमि को है। अतएव भारत की पुण्यभूमि में जन्म लेकर भारत की भारती को यदि अकबर ने जगा दिया तो कोई अनोखी बात नहीं। उसे तो हिंदी से इतना सहजात प्रेम था कि उसने एक तुच्छ हिंदी सेवक 'नरहरि' की पालकी को कंधा लगा दिया। सुनिए न, चैनी कवि का कथन है—

"बाजी की सु पीठि पै चढ़ायो पीठि आपनी दै
कवि हरिनाथ को कछोहा मान सादरै।
चकवै दिल्ली के जे अथक अकबर सोऊ
नरहरि पालकी को आपने काँधा धरै॥

१—संगीत रागकल्पद्रुम, वही, पृ० १९२-३।

'बेनी कवि' देनी ओ न देनी को न मोको सोच
नावै नैन नीचे लखि बीरन को कादरै।
राजन को दीबो कविराजन को काज अब
राजन को काज कविराजन को आदरै॥"[1]

हाँ, तो अकबर के इस हिंदी हृदय को समझ लेने के लिये ध्यान रखिए कि

"बढ़ी बादशाही ज्यों ही सलिल प्रलै के ब"
राना, राव, उमराव सबको निपात भो।
बेगम बिचारो बही, कतहूँ न थाह लही,
बाँधौ गढ़ गाढ़ो गूढ़ ताको पक्ष पात भो॥
शेरशाह सलिल प्रलै को बढ्यो 'अजबेश',
बूड़त हुमायूँ के बड़ोई उतपात भो।
बलहीन बालक अकब्बर बचाइवे को
बीरभान भूपति अछैवट को पात भो॥"[2]

नवजात शिशु अकबर पर इस घटना का जो प्रभाव पड़ा उसने आजीवन उसको भारत का ऋणी बना दिया और उसके उदार हृदय में उस संस्कृति का बीज बो दिया जिसमें संकीर्णता का नाम तक नहीं। कहा जा सकता है कि जिस अकबर के शासन में सरकारी दफ्तरों से हिंदी निकाल दी गई और उसकी जगह फारसी को दे दी गई उसको 'भाषा' के प्रसंग में इतनी प्रशंसा क्यों? ठीक है। किंतु क्या यह ध्रुव सत्य नहीं है कि अकबर ने फारसी को जो कुछ महत्त्व दिया वह केवल राजभाषा होने के

१—शिवसिंह सरोज, वही, पृ० २०५।
२— „ „ पृ० २१।

कारण अथवा राजनीति के चक्कर मे पड कर ही ? हाँ, उसके शासन मे फारसी का ढिंढोरा पीटनेवाला राजा टोडरमल भी शाही दबदबे में आकर ही फारसी का प्रचार करता था।

उस समय की कूटनीति चाहे जो रही हो, पर इतना निर्विवाद है कि अकबर तथा टोडरमल को राष्ट्रभाषा हिंदी से जो प्रेम था वह फारसी अथवा किसी अन्य भाषा से कदापि नहीं। प्रमाण के लिये सर्व प्रथम राजा टोडरमल का यह पद्य लीजिए—

"जार को विचार कहा गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिदी को,
सेवा कहा सूम को, अरडन की डार सी॥
मदपी को सुचि कहा साँच कहा लपट को,
नीच को वचन कहा, स्यार की पुकार सी।
'टोडर' सुकवि ऐसे हठी ते न टारे टरे,
भावे कही सूधी वात भावे कही पारसी॥"[१]

किंतु साथ ही राजा साहब को इस बात का पूरा पूरा पता था कि फारसी से लोकहृदय का कोई सबध नहीं। इसलिये 'सूधी वात' ही को अब अधिक महत्त्व देना चाहिए। अब तो देववाणी का कार्य भी लोकवाणी 'भाषा' मे ही होना चाहिए। अत उन्होंने आदेश दे दिया कि

'सोहै जिन सासन में आतमानुसासन सु,
जी के दुखहारी सुखकारी साँचो सासना।

१—शिवसिंह सरोज, वही, पृ० ११७।

जाको गुन भद्रकार गुण भद्र जाको जानि,
भद्र गुन धारी भव्य करत उपासना ॥
ऐसे सार सास्त्र को प्रकास अर्थ जीवन को,
बनै उपकार नासै मिथ्या भ्रम वासना।
तातें देसभाषा अर्थ को प्रकास करु जातें,
मंदबुद्धि हू के हिय होवै अर्थ भासना ॥"[1]

निदान हम देखते हैं कि विज्ञ तथा अज्ञ दोनों ही के उपकार के लिए जिस भाषा को महत्त्व दिया जा रहा है वह हमारी 'देशभाषा' अथवा लोकवाणी हिंदी ही है, तुर्की, अथवा फारसी नहीं। फारसी के परम प्रचारक राजा टोडरमल की जब यह आज्ञा है तब भला भाषाप्रेमी उदार दरबार हिंदी की उपेक्षा कैसे कर सकता है? अकबर के दरबार में हिंदी की जो प्रतिष्ठा थी उसका कहना ही क्या! फैजी और अबुलफजल जैसे फारसी के प्रकांड मुंशी भी कुछ हिंदी कविता कर लेते थे। स्वयं सम्राट् तो 'गुरुन-गुरु'[2] प्रसिद्ध हो गए थे और संगीत शास्त्र के सच्चे मर्मज्ञ माने जाते थे। जहाँ कहीं किसी गुणी की चर्चा हुई उन्होंने उसे अपने पास खींच लिया अथवा स्वयं जाकर किसी न किसी रूप में उसका दर्शन किया। कहते हैं कि संगीतशिरोमणि बाबा हरिदासजी के दर्शन के लिये अकबर तानसेन के साथ उनकी 'कुटिया' पर पहुँच गए

१—मिश्रबंधु विनोद, प्रथमभाग, गंगापुस्तकमाला, अमीनाबाद पार्क, लखनऊ, सं० १९८३ वि०, पृ० २९६।

२—अकबर को 'जगनगुरु' भी उपाधि थी। गीतों में प्राय इसका उल्लेख हुआ है।

और नरहरि बंदीजन के एक छप्पय से प्रभावित होकर उन्होंने गोवध बंद करा दिया। वह सीधा सा छप्पय यह है। असहाय गौ निवेदन करती है—

"अरिहुँ दंत तृन धरहिं, ताहि मारत न सबल कोइ।
हम संतत तृन चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महिथंभन जावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पियावहिं॥
कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुयहु चाम सेवइ चरन॥"[१]

हिंदी के दरबारी तथा अन्य कवियों ने अकबर की जो भूरि भूरि प्रशंसा की है उसके कहने की आवश्यकता नहीं। यह एक तरह से प्रसंग के बाहर की बात है। यहाँ स्वयं सम्राट् की रचनाओं का आस्वादन कीजिए और उनकी हिंदीनिष्ठा को खूब जाँच लीजिए कि फिर कभी आपको इस विषय में किसी प्रकार का धोखा न हो और आप उसके कवित्व को सरलता से आँक सकें।

खेद है कि अकबर की रचनाओं का अभी तक कोई अच्छा संस्करण नहीं निकला और कुछ फुटकर पद्यों के अतिरिक्त उनका कोई व्यवस्थित संग्रह भी देखने में नहीं आया। पर प्रसंगवश जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह उसके कविमहत्त्व के लिये पर्याप्त है। उसका एक पद्य यह है—

"शाह अकब्बर बाल की बाँह अचिंत गही चलि भीतर भौने।
सुंदरि द्वार ही दृष्टि लगाय कै भागिबे की श्रम पावत गौने।

१—मिश्रबंधु विनोद, वही, पृ० २९०।

चौंकत सी सब ओर विलोकत संक-सकोच रही मुख मौने ।
यों छवि नैन छबीली के छाजत मानो बिछोह परे मृगछौने ॥"[१]

अच्छा, अब कान्ह के संबंध का भी एक वर्णन देख लीजिए। कृपया भूल न जाइए कि अकबर हिंदू नहीं बल्कि मुगल हैं। देखिए कितना सजीव वर्णन है! सूझ और सहृदयता का कितना सच्चा मेल है! अकबर का कथन है —

"शाह अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहिं।
आहट ते अबला निरख्यो चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं।
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सु भई छबि यों ललना अरु लालहिं।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहि बालहिं॥"[२]

किंतु अकबर को संगीत का जो चसका लग गया था उसने उन्हें 'गुरुनगुरु' बना दिया। दरबारी गायकों[३] की सूची व्यर्थ होगी। उनकी संगीतनिपुणता का प्रमाण यह है—

"शिक्षा कार अनुकार रंचक
भावक गायन तान प्रमाण।
घात मात योग ध्यान इन भेदन भेद
ध्यान शरीर की सुरत मंत्र बखान॥
जे अलंकार सुर ताल प्रस्तार विस्तार
जानत सब बहु विध अंग अंग सुजान।

१—शिवसिंह सरोज, वही, पृ० १।
२— " " ।
३—दरबारी गायकों का पूरा विवरण अबुल फजल ने आईने अकबरी में अच्छी तरह से दे दिया है। पाठक चाहें तो वहाँ देख सकते हैं।

शाह अकबर गुरुनगुरु संगीत
कलानिपुणन किए भए न गान ॥"[1]

और

"सीधी सुनी बातें कोलों रोको जोलों न आवे गरे की तान।
जो कुछ जानो तो साधो रंगरंग के प्रमाण।
बिनही पढ़े बिनही समझे बिनही सोचे कहावत ज्ञान।
गुरुनगुरु साह जलालदी साह अकबर सब विध जान ॥"[2]

अस्तु। सर्व प्रथम 'प्रभु' का प्रसाद देखिए—

"भान उदोतकरण तिमिरहरण प्रकाशपति
ज्योती सरूप अपनो दया जनावे।
सप्तद्वीप नवखंड परजौरी
किरण तनी तनावे॥
दृष्टि न जुरत महाप्रताप तेज
एसो करतार दियो जनावे।
'साह अकबर' प्रभु को प्रसाद
व्यापत भयो याते जग रसाल ले आवे॥"[3]

काव्य की दृष्टि से अकबर के पद किस कोटि के हैं इसे भी देख लें। प्रसंग वही रतिभाव का है। अकबर कहते हैं कि

"जे छिन छिन लगन के समीप रही
एसी घरी लेखे में गिन लइए।

१—संगीत रागकल्पद्रुम, वही, पृ० २६२।
२— " पृ० १५२।
३— " पृ० १५१।

सोई तो विचित्र चातुर अधिक सुनि री
जो उनको प्रेम प्रकृति लिए रहिए ॥
भाग सोहाग ताही को गिनो री
जासों पिय हँस बोले जिय की बात कहिए।
'शाह अकबर' प्यारे के मनरंजन घड़ी
घड़ी घड़ी घड़ी पल-पल चहिए॥"[१]

पर हुआ क्या ? उसी नायिका के मुँह से सुनिए। वह कलपकर कहती है—

"प्यारे तू मन मेरे तन में बसत रजनी
दिन तोही सों जीवन बनत मेरो।
सोवत सपने अंतर अनत फिरत तोऊ
संग लागी रहत हौं पिय छाड़त नाहीं औसेरो॥
नैनन की पुतरीन में मोहनी मूरत देखयाई
करत तोऊ व्यापत न मोमैं काम अनेरो।
विरहनी नारन तारन 'अकबर शाह' सुजान
हो आई सेवा कारण काहू सौतन
के कहैते अब तुम जिन मोपर तेजो फेरो॥"[२]

अच्छा, तो !
"लाल के संग ललना रैन जागी और लाल
लोचन लागोहि आली री मानो बधू पसीठे।

१–संगीत रागकल्पद्रुम, वही, पृ० २६२।
२– „ „ पृ० १६३।

ता मधपुरी ऐसी शोभा मानों भँवर
लपटात उन मध उड़ परे रंगम झीठे ॥
उनके देखे भूँखे रहिहीं मेरे जान खंजन
कमल मीन मृग लागे बसीठे ।
'साह अकबर' पिय को मोहेत दीजियत
अरसाने नींदन अघाने अलस लड़े
पुन बारछवि ढीले चितवन मीठे ॥"[1]

संभवतः आप सोचते होंगे कि अकबर का रंगढंग हिंदू हो गया था । इसीलिये वह हिंदी की खरी रचना कर जाता था । ठीक है । पर आपको भूलना न होगा कि संगीताचार्य 'मियाँ' तानसेन उसके विषय में क्या कहते हैं—

"चढ़ो चिरंजीव साह अकबर साहनसाह
बादसाह तखत बैठो छत्र फिरे निशान ।
दिल्लीपति तुम नबी जी को नायब अति सुन्दर सुलतान ॥
चारो देश लिए कर जोर कमान
राजा राव उमराव सब मानत तोरी आन ।
कहे 'मियाँ तानसेन' सुनियो महाजान
तुमसे तुमही और नाहीं दूजो गुणी जगत के राखत मान ॥"[2]

अकबर के दरबार में जिन गुणियों की प्रतिष्ठा थी उनमें साहित्य के क्षेत्र में अब्दुल रहीम खानखाना श्रेष्ठ थे । महात्मा

१-संगीत रागकल्पद्रुम, वही, पृ० ६३-६४ ।
२- " " १२१ ।

सूरदास अकबर के दरबारी गायक न थे। वह दरबारी गायक रामदास का बेटा सूरदास कोई और ही था। अतएव रहीम की श्रेष्ठता में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। रहीम भाषाओं के अभिज्ञ, उदार और सरस पंडित थे।

जहाँगीर का कहना है कि रहीम अरबी, तुर्की और फारसी के साथ ही साथ संस्कृत और हिंदी के भी ज्ञाता थे और फारसी तथा हिंदी में कविता भी अच्छी करते थे। वे मुसलिम और हिंदू विद्याओं से अभिज्ञ थे। जहाँगीर का मूल कथन यह है—

"ज़बान अरबी व तुर्की व फारसी व हिंदी मीदानस्त व अज़ अक़साम दानिश अक़्ली व नक़ली हत्ता उलूम हिंदी बहरा वाफ़ी दाश्त.. व बज़बान फारसी व हिंदी शेर नीको गुफ्ते।"[1]

रहीम एक धुरीण पंडित या सहृदय कवि ही नहीं बल्कि कुछ और भी थे। और क्या थे, इसे भी देख लीजिए। एक हिंदी कवि का कितना सप्रेम कथन है—

"सेर सम सील सम धीरज सुमेर सम
सेर सम साहेब जमाल सरसाना था।
करन कुबेर कलि कीरति कमाल करि
तालेबंद मरद दरदमंद दाना था।
दरबार दरस परम दरवेसन को
तालिब तलब कुल आलम बखाना था।

१—ओरियंटल कालेज मैगजीन (लाहौर), वही, अगस्त सन् १९३१ ई०, पृ० १२ पर अवतरित।

गाहक गुनी के सुखचाहक दुनी के बीच
'संत कवि' दान को खजाना खानखाना था ॥"

'खानखाना' के दान की जो प्रशंसा फारसी तथा हिंदी के कवियों ने की है वह कहने-सुनने की बात नहीं, पढ़ने-गुनने की चीज है। 'छप्पै में छतीस लाख' की कहावत तो इसी से चरितार्थ हुई है। हिंदी जनता अपने 'रहीम' को भली भाँति पहचानती है।

रहीम हिंदी के सफल कवि ही नहीं, हृदय के भी हिंदी हैं। उनके हिंदी हृदय को देखना हो तो उनकी हिंदी रचनाओं का अध्ययन कीजिए और देखिए कि 'गाजी' खानखाना के हृदय में गंगा[2] और कृष्ण[3] के लिये क्या स्थान है और किस प्रकार उनकी रचना से सिद्ध होता है कि संस्कृत 'मरी' नहीं बल्कि एक भिनी हुई भाषा है जिससे बच निकलना किसी भी मनीषी और सहृदय के लिये दुस्तर है। देखिए 'तुर्कमान' रहीम की

१—शिवसिंह सरोज, वही, पृ० ३५७।

२— "अच्युतचरणतरङ्गिणी, शशिशेखरमौलिमालतीमाले।
ममतनुवितरण समये, हरता देया न मे हरिता ॥"

३— आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका।
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसुवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि ।
प्रीतस्त्वं यदि चेन्निरीक्ष भगवन् स्वप्रार्थितं देहि मे।
नोचेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनस्त्वेतादृशीं भूमिकाम् ॥

रहीम की संस्कृत कविता के लिये देखिए रहिमन विलास, संपादक ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सं० १९८७, पृ० ७३ से ७६ तक।

'पठानी' क्या और किस भाषा मे कहती है--

"इति वदति पठानी मन्मथाङ्गी विरागी
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी।"

इधर कुछ दिनों से यह प्रचार किया जा रहा है कि हिंदी में छंदों का अभाव था इसलिये उर्दूवालों ने फारसी छंदों को अपनाया। किंतु यदि हमारे ये परदेशी भाई केवल रहीम का अध्ययन आँख खोलकर कर लेते तो इन्हें यह कहने का दुस्साहस कदापि न होता कि हिंदी मे दोहा अथवा कवित्त के सिवा दूसरा कोई छंद ही नहीं। रहीम ने तो स्वयं ही अनेक छंदों में रचना की है और अपनी 'बरवैनायिकाभेद' नामक पुस्तक में स्पष्ट कह भी दिया है कि

"कवित कह्यो दोहा कह्यो, तुल्यो न छप्पै छंद।
बिरच्यो यहै बिचारि कै, यह बरवै रस छंद॥"

रहीम के विषय मे कुछ और निवेदन करने की आवश्यकता नहीं। उनकी कविताओं का संग्रह हो चुका है। प्रसंगवश यहाँ स्पष्ट कर देना है कि रहीम 'रेख़्ता' के भी लेखक हैं। 'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग इन्होंने किया अवश्य है पर भाषा के नहीं गाने के अर्थ में। 'मदनाष्टक' में जो

"झुक झुक मतवाला गावता रेखता था।"

का प्रसंग आया है वह गान का ही है, भाषा का नहीं। बाद में रहीम के दिन दुःख से बीतने लगे और जहाँगीर की क्रूरदृष्टि के कारण उन्हें यत्रतत्र भटकना पड़ा। उनकी उस समय की रचना और भी सुहावनी हो उठी है और उनके जीवन की अनेक पहेलियों की कुंजी

बन गई है। पर उसपर विचारकर पाठकों को सरस बनाना हमारा काम नहीं, हमारा लक्ष्य तो कुछ और ही है। अतएव हम रहीम के प्रसंग को यहीं छोड़े देते हैं और अब कुछ स्वयं जहाँगीर की हिंदीनिष्ठा की चर्चा करते है।

हिंदी अकबर के जन्मदेश की भाषा थी तो जहाँगीर के जन्मदेश और जननी दोनों की। फिर भला वह उसकी उपेक्षा किस तरह कर सकता था? फलतः उसने स्वतः हिंदी में रचना की और हिंदी कवियों को महत्त्व की दृष्टि से देखा। उसकी हिंदीनिष्ठा इतनी प्रबल हो उठी कि उसकी फारसी भी हिंदी की छाया जान पड़ने लगी[1]। यहाँ तक कि उसमें शेरजन या शेरअफ-गन की जगह हिंदुस्तानी शेरमार का प्रयोग होने लगा और 'कटोरी' और 'पाव' जैसे प्रचलित हिंदी शब्दों का व्यवहार धड़ल्ले से फारसी में चल पड़ा। साधुसंतों पर उसकी इतनी श्रद्धा बढ़ी कि उनके स्थानों पर चुपके से जाने लगा। उज्जैन के गोसाईं जदरूप से तो कई बार पैदल चलकर एकांत में मिला था। सारांश यह कि जहाँगीर चारों ओर से हिंदी का हित कर रहा था।

जहाँगीर के विषय में एक सूफी कवि 'उसमान' का कहना है

"विधिना सौं जाँचे जगत, पुहमी धरे लिलाट।
जौलहु धरती सरग दोउ, रहै छात औ पाट॥

१—जनाब हाफिज़ महमूद शेरानी साहब ने इसकी काफ़ी छानबीन की है। देखिए ओरियंटल कालेज मैगज़ीन (लाहौर), अगस्त सन् १९३१ ई०, पृ० १-२।

तहाँ बैठि पुहुमी पति भारी, देइ दान कर बार उघारी।
एकहि बेर एक कहँ देई, दूसरि बेरि न कोऊ लेई॥
पिरथी बली होत जो आजू, माँगत देखि दान कर साजू।
वादि मरजिया समुंद धसाई, वादिहि लोग रतनगिरि जाई॥
वादि सुमेरु लागि जग धावै, कस न बार जहँगीर के आवै।
देइ रतन जत मनसा होई, सोन रूप कहँ बरज न कोई॥
मइँ सुना कि अनेक भिखारी, कीन्हें साह नेवाजि हजारी।

आपउँ सोई बार सुनि, लिये गरीबी साज।
कहा जो माँगु गरीब है, साह गरीब नेवाज॥"[1]

जहाँगीर ने गाजीपुरी 'उसमान' को जो कुछ दिया उसका पता नहीं। पर इतना अवश्य है कि जहाँगीर ने हिंदी कवियों को बहुत कुछ दिया। उसने अपनी जीवनी में इसका उल्लेख अनेक बार किया है। किसी चारण कवि का एक छंद तो उसे इतना भा गया कि उसका चट फारसी[2] भाषा में अनुवाद भी हो गया। यह कवि राजा सूरजसिंह का चारण था। राजा के साथ जहाँगीर के दरबार में पहुँचा तो उसने इस आशय का एक छंद पढ़ा कि यदि सूर्य के कोई पुत्र होता तो कभी अंधकार न होता। वह पिता की जगह प्रकाश का काम करता और विश्व को इस

१—चित्रावली जगन्मोहन वर्म्मा संपादित, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९१२ ई०, पृ० ९।

२—जहाँगीर ने अपनी किताब तुजुक जहाँगीरी (पृ०६७) में इसका उल्लेख किया है। इसके लिये देखिए ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, लाहौर, अगस्त सन् १९३१ ई०, पृ० ११-१२।

प्रकार, उसके अभाव में, प्रकाशित रहता। पर दुर्भाग्य से उसके कोई आत्मज नहीं है। हाँ, अकबर अवश्य ही इस विषय में इतने सौभाग्यशाली थे कि उनका पुत्र जहाँगीर आज उनके अभाव में भी संसार को जगमगा रहा है। इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग में जहाँगीर ने स्पष्ट कहा है कि किस प्रकार रीझकर उसने एक बूढ़े भाट का नाम 'बूँटा' से बदल कर 'वृक्षराय' कर दिया और उसको एक सहस्र मुद्रा भेंट दी।[1] कहना न होगा कि यह घटना गुजरात की है जो उसके 'जलूस' के तेरहवें वर्ष में घटी थी।

संभवतः आप सोचते होंगे कि जहाँगीर जैसे मौजी जीव के दरबार में हिंदी को जो महत्त्व मिल गया वही बहुत है। पर नहीं, सम्राट् ने स्वयं भी हिंदी में कुछ रचा है। उनका एक पद है—

"अति छवि छाजत है ललना लोचन तिहारे।
रंग रँगीले रसाल छबीले सोहत लजीले सोहैं जात जात
झुकी है कछू उझकी है ऐसे सोहन होत हमारे॥
अद्भुत रूप गोप बरनो न जाय कोटिक
काम द्युति सुध बुध बिसारै।
'साह जहाँगीर' जान बूझ कर सकुचावत
इन नैनन में रैन विहारे॥"[2]

१—देखिए ओरियंटल कालेज मैगजीन, वही, पृष्ठ १४। अथवा तुजुक जहाँगीरी, पृ० २२९।

२—संगीत रागकल्पद्रुम, वही, पृ० ९२८।

सहृदयों से यह कहने की बात नहीं कि जहाँगीर का उक्त पद किस कोटि का है। उसका भाई दानियाल भी इस क्षेत्र में कुछ कम न था। उसके संबंध में जहाँगीर का कथन है—

"बनग़मये हिंदी मायल बूद। गाहे बज़बाने अह्ले हिंद व ब इस्लाह ईसा शेरे मी गुफ्त। बद न बूदे।"[1]

ध्यान देने की बात है कि जहाँगीर जिस भाषा को 'अह्ले हिंद' की ज़बान कहता है वही आज न जाने किस आधार पर 'पूरब' या 'एक सूबे' की बोली बताई जा रही है[2] और जोरों के साथ यह प्रचार किया जा रहा है कि हिंदी कल की बनावटी ज़बान है। इसी तरह 'हिंदुस्तानी' के संबंध में भी बहुत कुछ अनापशनाप उड़ाया जा रहा है। किंतु अभी यह प्रसंग से बाहर की बात है।

जहाँगीर के बेटे शाहजहाँ को हम 'उर्दू' के लिये बराबर याद करते हैं पर कभी यह ध्यान में भी नहीं लाते कि शाहजहाँ हिंदी का एक निपुण कवि क्या उसके लिये एक जीता-जागता कल्पवृक्ष था। होता भी क्यों नहीं!

"ख़ुर्रम (शाहजहाँ) की पैदाइश पर जो जश्न हुआ और हर्मसरा में जो ख़ुशियाँ मनाईं गईं वह तुरकाना नहीं हिंदु-

---

१—(अर्थ) "हिंदी संगीत का अनुरागी था। कभी कभी हिंदवालों की भाषा में उन्हीं के ढंग की कविता भी करता था जो बुरी नहीं होती थी।" ओरियंटल कालेज मैगजीन, वही, अगस्त सन् १९३१, पृ० १२।

२—देखिए सैयद सुलेमान नदवी का 'हिंदुस्तान में हिंदुस्तानी' नामक लेख, अलीगढ़ मैगजीन, मुसलिम यूनिवर्सिटी प्रेस, अक्टूबर सन् १९३१, पृ० २७।

माना थीं। यह पैदा हुआ तो सारी रजपूती रीत रसमें बरती गईं। जुधाखाना तक गाया और हिंदी सुरों से जी बहलाया गया। दाई जी शहज़ादे को गोद मे लिए हुए हैं मगर हाथ नहीं लगातीं। मोतियों के थाल सामने हैं मगर उनके भावें नहीं लगता। एक अदा और बड़े नाज़ से सुना सुनाकर कहती हैं—

"माँगे हैं जोधाजी का राज, ललाजी का नाल न छुवावै।
थाल भर मोती जोधा रानी लाईं, वह भी लेवै न यह दाई॥"[1]

सारांश यह कि शाहजहाँ जन्म से ही हिंदी था। हिंदी ही उसकी जन्मभाषा थी। फारसी में अभ्यस्त हो जाने पर भी कभी तुर्की में उसकी रुचि न हुई और विवश होकर एक दिन जहाँगीर को कहना ही पड़ा कि

"अगर शख्से अज़ मन पुरसद कि अज़ सिफ़ात पसंदीदा चीस्त कि बाबा खुर्रम न दारद ख्वाहम गुफ्त कि ज़बान तुर्की न दारद।"[2]

शाहजहाँ को पिता जहाँगीर की चिंता का पता चला और वह चट बोल उठा कि यदि मेरे तुर्की न जानने के कारण आप को मुझमें कमी दिखाई देती है तो मैं इसे भी दूर कर दूँगा। शाहजहाँ तुर्की सीख सकता था, पर उसको अपनी भाषा बना

१—मुग़ल और उर्दू, वही, पृ० १५।
२—(अर्थ) "यदि कोई मुझसे पूछे कि सद्गुणों में कौन ऐसा गुण है जो शाहजहाँ में नहीं है तो कहूँगा कि तुर्की भाषा उसे नहीं आती।" 'शाहजहाँनामा' से ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, अगस्त सन् १९३१ ई०, पृ० १८ पर अवतरित।

लेना तो उसके वश की बात न थी। वह हृदय से हिंदी था और हिंदी ही उसे भाती भी थी। वह हिंदी को संपन्न बनाना चाहता था। यही कारण है कि उसने

"हुक्म दिया कि यूनानी और हिंदोस्तानी मुनज्जिम मिल कर हिंदोस्तानी जबान में उसका (बीचशाहजहानी का) तरजुमा करें।" [1]

'शाहजहाँनामा' में जो

'बहिंदोस्तानी ज़बान तरजुमा नमूदंद' का प्रयोग किया गया है उसीको लक्ष्य करके उर्दू के परम प्रशंसित खोजी जनाब हाफिज महमूद शेरानी साहब लिखते हैं—

"मैं समझता हूँ कि इस इबारत में हिंदोस्तानी से मुराद उर्दू नहीं है बल्कि ब्रजभाषा है। मुनासिब मालूम होता है कि चंद कलमे यहाँ मैं ब्रजभाषा के मुताल्लिक़ लिख दूँ।

'ब्रज इस वक्त तमाम ज़िला आगरा, रियासत भरतपुर, मथुरा, ग्वालियर, मशरकी इलाकाये रियासत जैपुर, गुड़गाँव, बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली और तराई परगनाये नैनीताल में बोली जा रही है। मुसलमानी अहद में इस ज़बान में मूसीकी व शेर का बहुत रिवाज रहा है। इब्तदायन् इस ज़बान को महज़ मोकामी हैसियत हासिल थी, लेकिन नवीं सदी हिजरी के मुंतसफ़ कोम याने लोधियों के ज़माना में मूसीकी की बिना पर इस ज़बान ने हिंदोस्तान में अदबी इम्तयाज़ हासिल कर लिया। इस सिलसिला में राजा मानसिंह

१—ओ० का० मैगज़ीन, वही, पृ० २०।

ग्वालियरी का नाम हमेशा यादगार रहेगा। सबसे बड़ा इन्कलाब इसने यह किया कि संस्कृत को हटाकर मूसीक़ी में ग्वालियरी ज़बान को दाख़िल कर दिया ताकि अवामुन्नास राग के साथ ज़बान को भी समझ लें।"[१]

जनाब शेरानी ने जो कुछ कहा है उससे तो प्रत्यक्ष ही है कि उर्दू के पढ़े-लिखे समझदार विद्वान भी व्रजभाषा की व्यापकता के कायल हैं और यह मान भी लेते हैं कि शाहजहाँ की 'हिंदोस्तानी' का अर्थ 'व्रजभाषा' अथवा 'भाषा' ही है, उर्दू नहीं। फिर भी उर्दू से उन्हें इतना मोह हो गया है कि किसी भी प्रसंग में उसका नाम लिए बिना जी नहीं सकते। अतः उक्त शेरानी साहब बड़े ठाट से कहते हैं—

"इन चंद अमूर से, जो मैंने बख़ौफ़ तवालत एख़्तसार के साथ गुज़ारिश किए हैं, मालूम हो जायगा कि ग्वालियरी ज़बान इस अहद की मूसीक़ी और शेर की ज़बान है और दरबार शाही में साथ साथ चल रही है। और चूँकि हिंदू और मुसलमान दोनों क़ौमें इसमें हिस्सा ले रही हैं इसलिये इसको भी हिंदोस्तानी ज़बान के नाम से याद किया जाता है। जहाँ ख़ास हिंदुओं की मख़सूस ज़बान का ज़िक्र होता है वहाँ साफ़ ज़बाने हिन्द या इस माने के और अल्फ़ाज़ मुस्तामल होते हैं।"[२]

जनाब शेरानी के 'इसको भी' को भूल जाना खिलवाड़ नहीं है। इस 'भी' की जरूरत क्यों पड़ी, इसका उत्तर प्रत्यक्ष है।

१—ओ० का० मैगज़ीन, वही, पृ० २०।
२—ओ० का० मैगज़ीन, वही, पृ० २४।

शाहजहाँ का उर्दू से जो संबंध बताया जाता है वह किसी से छिपा नहीं है। आज भी बहुत से लोग यह कहते सुनाई देते हैं कि उर्दू तो शाहजहाँ के वक्त में बनी। और मुगल वंशी जनाब 'अरशद' गोरगानी तो साफ साफ दावा पेश कर बैठते हैं कि

"जनाबे साहबे केराँ प नाजिल फकत यही निअ्मत खुदा ने की थी। इन्हीं की औलादें इनकी वारिस वही हैं पैगम्बराने उर्दू।"[१]

परंतु आज तक किसी भी उर्दू के कर्णधार से यह न हो सका कि कहीं भी शाहजहानी समय में किसी भी भाषा के लिये 'उर्दू' का प्रयोग दिखा दे। फिर हम कैसे मान सकते हैं कि 'हिंदोस्तानी' का प्रयोग उस समय 'उर्दू' के लिये भी हुआ है। उर्दू उस समय तो किसी भाषा का नाम ही न था।

शाहजहाँ के नाम से उर्दू के चल निकलने का प्रधान कारण यह है कि वस्तुत: उर्दू उसी के 'उर्दूएमुअल्ला' की उपज है, किसी अन्य के मेलजोल की चीज नहीं। इस 'उर्दूएमुअल्ला' के नाते जो लोग उर्दू को शाहजहाँ की चीज समझते हैं वे भारी भ्रम में फँसे हैं। उनके इस व्यामोह का निराकरण हो जाना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिये इससे बढ़कर और अवसर कहाँ ?

शाहजहाँ के शासन में हिंदी को जो महत्त्व मिला उसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। कौन कह सकता है कि कितने हिंदी कवियों को कितने अवसरों पर क्या कुछ मिला। पंडितराज जगन्नाथ ने उसे यों ही 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' नहीं कह

१—फरहगे आसफिया, जिल्द चहारुम, रफाहे आम प्रेस, लाहौर, सन् १९०१ ई०, तकरीज़, पृ० ८५५।

दिया था। उस समय उसका ऐश्वर्य अनुपम और अद्वितीय था। संस्कृत के कवियों को आश्रय दे उसने प्रत्यक्ष दिखा दिया कि वस्तुतः उसका देश क्या है और वह किस जीवट का व्यक्ति है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वह लालखाँ कलावंत को 'गुणसमुद्र' अथवा 'गुनसमुन्दर' की उपाधि देता है, कुछ अरबी-फारसी की तलछट नहीं। जब 'खाँ' के प्रसंग में हिंदी आ गई तब किसी हिंदू की बात ही क्या? यदि शाहजहाँ ने जगन्नाथ को 'पंडितराज' और सुंदर को 'कविराय' की पदवी प्रदान कर दी तो कोई नई बात नहीं की। यह तो परंपरा ही थी।

पंडितराज जगन्नाथ की हिंदी रचना का पता नहीं। पर उनके शिष्य कुलपति मिश्र का कथन है कि

"वेद अंग – जुत पढ़ें, शील तप ऋषि वसिष्ठ सम।
अलंकार – रस – रूप, अष्टभाषा – कविता – क्षम॥
तैलग वेलनाटीय द्विज, जगन्नाथ तिरशूल धर।
शाहिजहाँ दिल्लीश किय, पडितराज प्रसिद्ध धर॥"[1]

तैलंगी पंडितराज की 'अष्टभाषा' का ठीक ठीक पता नहीं। पर यह विश्वास नहीं होता कि उन्हीं के साथ के पंडित कवींद्राचार्यजी उसी दरबार में हिंदी की रचना करें और हमारे पंडितराज 'अष्टभाषा-कविता-क्षम' होकर चुप चाप पड़े रहें। निदान यह मानना पड़ता है कि शाहजहाँ के दरबार के संस्कृत कवि भी हिंदी में रचना करते थे और इस प्रकार हिंदी के गौरव

१—संग्रामसार, प्रथम परिच्छेद, (संवत् १७३३ वि०,) से हिंदी रसगंगाधर प्रथम भाग (ना० प्र० सभा काशी) की भूमिका, पृ० १३-१४ में अवतरित।

को बढ़ाते थे, उसको राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करते थे। उसे भी आदर की दृष्टि से देखते थे।

सुंदर कविराय का कथन है—

"नगर आगरा बसत है, जमुना तट सुभ थान।
तहाँ बादशाही करै, बैठो साहजहान॥
साह बड़ो, कवि सुख तनिक, क्यों गुन बरने जाहिं।
ज्यों तारे सब गगन के, मूठी में न समाहिं॥
इक छिन के गुन साह के, बरनत सब ससार।
जीभ थके बीतें बरस, तऊ न पावे पार॥
तीन पहर लौं रवि चलै, जाके देसन माहिं।
जीत लई जगती इती, साहजहाँ नरनाहँ॥
कुल समुद्र खाई कियो, कोट तीर को ठाँव।
आटों दिसि यो बस करी, ज्यों कीजे इक गाँव॥
साहजहाँ तेहि गुनिन कौं, दीन्हे अगिनत दान।
तिन में सुंदर सुकवि को, बहुत कियो सनमान॥
नग भूखन मनसब दिए, हय हाथी सिरपाय।
प्रथम दियो कविराय पद, बहुरि महाकविराय॥
विप्र ग्वारियर नगर को, वासी है कविराज।
जासों साह मया करी, बड़ो गरीब नेवाज॥"[१]

१—ओ॰ का॰ मैगजीन, लाहौर, वही, फरवरी सन् १९३० ई॰ पृ॰ ९२ १६ १८।

शाहजहाँ के दानों की कुछ चर्चा फारसी के इतिहास-ग्रंथों में भी मिलती है। शाहजहाँनामा में तो उनका अनेक बार उल्लेख हुआ है। खाफीखाँ ने भी प्रसंगवश इसका उल्लेख किया है और स्पष्ट लिख दिया है कि शाहजहाँ ने एक कवित्त पर रीझकर एक हिंदी कवि को एक हथिनी और दो हजार रुपए दान दिए। शाहजहाँ का यह नियम सा था कि वह प्रत्येक शुभ अवसर पर हिंदी कवियों का सदा सत्कार करता था और उन्हें अच्छा इनाम भी देता था।

शाहजहाँ की हिंदी रचनाओं का ठीक ठीक पता नहीं। पर इतना तो प्रत्यक्ष हो चुका है कि वह हिंदी में पत्र-व्यवहार करता था। उसके हिंदी पत्रों [1] का उल्लेख स्वयं औरंगजेब ने किया है। परंतु दुर्भाग्यवश उसका कोई हिंदी पत्र हमारे सामने नहीं है। अतएव हम उसके पत्रों की हिंदी के विषय मे कुछ निश्चित रूप से कह नहीं सकते। पर इतना अवश्य जानते हैं कि वह किसी भी दशा में 'उर्दू' नहीं रही होगी, क्योंकि उन पत्रों का उद्देश्य ही कुछ और था। फारसी की जगह हिंदी में पत्र लिखने की सूझ फारसी-भरी भाषा के लिये हो ही नहीं सकती।

शाहजहाँ की हिंदी कविता का आस्वादन करने के पहले लगे हाथों एक उलझन को सुलझा देना ठीक होगा। 'शाहजहाँ-नामा' के आधार पर जनाब महमूद शेरानी साहब लिखते हैं—

"शाहजहाँ सातवीं साल जुलूस मे जगन्नाथ को आगरा मे बाज़ नज़्मों की तैयारी के लिये छोड़कर कश्मीर जाता है।

१—देखिए आगे (इसी पुस्तक के) पृष्ठ ३८-४०।

जगन्नाथ फुरसत में बारह नग्मे जो पादशाह के नाम पर थे तैयार करके शाहजहाँ की वापसी पर बमोकाम भिंबर जा मिलता है। पादशाह उनको सुनकर निहायत महज़ूज़ होता है और जगन्नाथ को चाँदी में तुलवाने का हुक्म देता है। जगन्नाथ चार हज़ार पाँच सौ रुपए के बराबर तुलता है और वही रुपया शाइर को इनाम में मिलता है।"[1]

इनाम की बात तो ठीक ठिकाने की है। पर 'बारह नग़मे जो पादशाह के नाम पर थे' का भेद नहीं खुलता। क्या बादशाह शाहजहाँ जगन्नाथ कलावंत से अपने नाम पर कविता कराते थे और अपने आप कुछ भी नहीं रचते थे ? ऐसा हो नहीं सकता। शाहजहाँ जैसे सहृदय, विनोदी, भावुक और रसिक व्यक्ति के लिये यह सर्वथा असंभव है कि वह स्वयं कविता न करता हो और सदा दूसरों से ही अपने नाम पर लिखवाता रहा हो। 'संगीत राग कल्पद्रुम' में शाहजहाँ के नाम से जो गाने दिए गए हैं उनके ठीक ठीक विश्लेषण से पता चलता है कि उनमें से कुछ में तो शाहजहाँ का नाम प्रसंगवश, यों ही, आ गया है; पर कुछ में उसकी 'छाप' साफ दिखाई देती है। उन्हें किसी और की रचना नहीं माना जा सकता।

शाहजहाँ संगीतशास्त्र में कितने निपुण थे इसका पता इस पद से चल जाता है—

"प्रथम खरज सुर साधे सोई गुणी जो सुध मुद्रा बाणी गावै।
द्रुत मघ विलंपन लघु गुरु पुलित कर दिखावै॥

१—ओ का. मैगज़ीन, वही, अगस्त सन् ३१ ई, पृ. २२।

सप्तसुर तीन ग्राम एकईस मुरछना बाईस सुरत ।
उनचास कोटि तान ताको भेद पावै ॥"[1]
और
'रम विनोदी गुण गहरत विवेक चिंतामणि ध्यान शाहजहाँ जान ।
जे जे ताराध्याय सुरध्याय रागध्याय तिनके करे
लक्ष लक्षण विद्या प्रमान ॥
बलि बलि करता उनहू से देत ऐसे कोटिन दान ।
चिर चिरजीयो छत्रपति प्यारो जौलौं भुवि ध्रुव रहै शशिभान॥"[2]

अच्छा, अब कलाप्रिय रसिक शाहजहाँ की रसिकता को देखिए। कितना सरस काव्य है ! प्रेमबीज की बात निराली तो है ही, भावभंगी भी कितनी सटीक है--

"माई काहे को कहो अब ही जो मोहिं जिन बरजो
लाल तन को री चितवो ।
मनमोहन प्राणेश्वर की छवि रीझत
अति मति गति सुध बुध बिसारो
नव अजहूँ भूल जैहै री तोहि सिख देयो॥
लगन सों फल ताकी कहा कहिए री
अब लोगन सुदर सखि भायो प्रेमबीज को बोयेयो ।
परम रुचिर हो 'साहजहाँ' तिनको पचसरहू ते सरस
अपरस करके मति गति मनहर लेवो ॥"[3]

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड वही, पृ० २९१ ।
२— „ „ „ „ पृ० २९६ ।
३— „ „ „ „ पृ० ६२ ।

किंतु मनमानी करने का प्रसाद यह मिला कि

"गई नींद उचट सखी सोयो हरो नेक न आई।
एक टग रहे पाटी लग मग निरखत तैसी चलत पवन पुरवाई॥
विकल रहत रोम रोम तलफत परी विरह जो न मानै मोरी माई।
मीन जल जोई 'शाहजहाँ' के दरसन विन अंग अंग सताई॥"[1]

किंतु

"भादों कैसे दिनन माई श्याम काहे को आवेंगे?
कोकिला की कुहुक सुनि छाती माती राती भई विरही
आगे ऊधो फूँक फूँक जरावेंगे॥
'शाहजहाँ' पिया तुम बहुनायक विरहिन के अँसुअन
की तपत बुझावेंगे॥"[2]

बहुवल्लभ शाहजहाँ इसके अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं कि

"पाइए जेहि लाल सोई विधि करीए काहे कों गुमना भरीए।
तापर मान मया बिच पीय की काहू की कही कित जिय धरीए॥
जहाँ नेक रीझे तहाँ ही करत हित ऐसे पीतम से डरीए।
बहुनायक प्यारो 'शाहजहाँ' जान सौतन तें बावरी
घरी घरी पल पल छिन छिन अंग सरीए"॥[3]

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० ३२४।
२— ,, ,, ,, पृ० ३२५।
३— ,, ,, ,, पृ० ३२५।

शाहजहाँ के एक दूसरे दरबारी कवि 'शिरोमणि' जी भी उसकी सहायता के लिये पहुँच गए हैं और किस ढब से कहते हैं कि

"दादुर चातक मोर करो किन सोर सुहावन को भरु है।
नाह तेही सोई पायो सखी मोहिं भाग सोहागहु को वरु है॥
जानि सिरोमनि' साहिजहाँ ढिग बैठो महा बिरहा-हरु है।
चपला चमको, गरजो बरसो घन, पास पिया तौ कहा डरु है?"

किंतु एक दिन वह भी आ गया। 'महा निरहाहर' शाहजहाँ बीमारी की दशा में सहसा औरंगजेब के चंगुल में आ गया और टकटकी बाँधे रातदिन मुमताज महल के 'ताज' को देखता रहा। प्यास बुझाने के जब तब जो प्रयत्न हुए वे और भी दुःखद निकले और उल्टे उसको सताने में ही सफल हुए। उस समय उसकी तृषित आहों ने जो रूप पकड़ा उसका किसी को क्या पता! पर इतना तो सभी जानते हैं कि उस गिरी दशा में भी उसे हिंदी ही हितू जान पड़ी और उसी के सहारे चुपके से उसने अपना काम बनाना चाहा। छिपे रूप में उसने प्रिय दारा शिकोह और प्यारे शुजा को हिंदी में पत्र लिखा और सचाई के लिये हस्ताक्षर भी अपना ही कर दिया।

औरंगजेब जैसे चतुर खेलाड़ी से पेश पाना आसान न था। बाजी उसी के हाथ रही। उसने बंदी शाहजहाँ को लिख भेजा कि आपके हिंदी पत्र पकड़े गए। उनसे पता चला कि अब भी आपका वही भाव बना है।

१—शिवसिंह सरोज, वही, पृ० ३३९।

हमे राजनीति के चक्कर से दूर रहकर हिंदी भाषा पर कुछ विचार करना है और यह प्रत्यक्ष दिखा देना है कि औरंगजेब-सा कट्टर गाजी बादशाह भी हिंदी का हितू था। उसके हिंदी-हित पर विचार करने के पहले यह बता देना अच्छा होगा कि मुगल राजकुमारों को हिंदी की भी शिक्षा दी जाती थी। इसी शिक्षा का परिणाम था कि शाहजहाँ ने स्वयं दाराशिकोह तथा शुजा को संकट के समय हिंदी में पत्र लिखा और चतुर औरंगजेब ने उन्हें बीच ही मे उड़ा लिया। वह लिखता है—

"चुनाचे अज़ नविश्तए कि बख़त हिंदवी
ब शुज़ा कलमी गरदीदः बूद।"[1]

संभव है कुछ लोग 'हिंदवी' का अर्थ 'उर्दू' लगाने के लिये तुले बैठे हों। उनसे स्पष्ट कह देना है कि भई 'बख़त हिंदवी' का अर्थ है—हिंदी भाषा तथा हिंदी लिपि, 'उर्दू' भाषा तथा फारसी लिपि कदापि नहीं। उर्दू के विषय मे यहाँ इतना और जान लीजिए कि शाहजहाँ अभी आगरे में है और हिंदी में पत्र भी इसीलिये लिखा जा रहा है कि उसके अहिंदी वैरी उसके भाव को ताड़ न सकें। कहने की बात नहीं कि उर्दू इसके लिये उपयुक्त नहीं। वह भी उस समय जब फारसी का प्रचलन हो और ओर स्वयं उस (उर्दू) का नाम तक न रहा हो।

उर्दू के बारे में हमें जो कुछ कहना है, प्रसंगवश कहते रहेंगे। जैसा ऊपर कह चुके हैं उक्त पत्र में हिंदी का अर्थ हिंदी

१—"अत उस पत्र से जो हिंदी अक्षरों म लिखा गया है।" ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, वही, अगस्त सन् १९३१ ई०, पृ० ७७।

ही है उर्दू कदापि नहीं। शाहजहाँ ने दाराशिकोह को जो पत्र हिंदी में लिखा था उसी को लक्ष्य करके औरंगजेब कहता है—[1]

"आँ फ़रमान आली कि दर ज़बाने अहले हिंद बख़ दस्तख़त ख़ास रक़मी फ़रमूद. शाहिद ईमानी अस्त।"[1]

'ज़बाने अहले हिंद' से भी प्रत्यक्ष है कि यह जबान हिंदियों की जबान यानी 'भाषा' थी न कि किसी और की जबान यानी उर्दू। उर्दू की तो अभी कहीं कोई बात भी नहीं थी। हाँ, उसका घर 'उर्दूएमुअल्ला' अथवा 'लालकिला' बन अवश्य गया था, पर शाहजहाँ विराजमान रहता था अकबराबाद यानी आगरे में ही। अभी 'उर्दूएमुअल्ला' में 'उर्दू' की 'ईजाद' नहीं हुई थी। उसकी जरूरत भी न थी। शाही शान और कामकाज के लिये शाही जबान फारसी फलफूलकर फैल रही थी। 'इम्तयाज़' के लिये बादशाहत भी बनी थी। फिर किसी बनावटी भाषा की जरूरत ही क्या थी कि जबान का एक नया पुतला खड़ा होता और देश में उपद्रव का बीज बोता। इधर कट्टर औरंगजेब की कठोर आलमगीरी सामने आई तो सही; पर कभी उसने हिंदी भाषा का विरोध नहीं किया बल्कि उसने उसे और भी प्रोत्साहित किया। इसीसे मुसलिम साहित्य के परम खोजी अल्लामा शिबली नुमानी का निष्कर्ष है कि

"ब्रजभाषा को जिस क़दर इसके जमाना में तरक़्क़ी हुई,

१—"यह श्रेष्ठ फरमान जो हिंदियों की भाषा में आपके ही हस्ताक्षर से लिखा गया है इसका साक्षी है।" देखिए मुगल और उर्दू, वही, पृ० २१।

मुसलमानों ने जिस क़दर इसके ज़माना मे हिंदी किताबों के तरजुमे किए, और खुद जिस क़दर ब्रजभाषा में नज्म व नस्र लिखी, किसी ज़माना में इस क़दर हिंदी की तरफ इल्तेफ़ात नहीं ज़ाहिर किया गया था। चुनांचे इसकी तफसील हम एक मुस्त-क़िल मज़मून में लिख चुके हैं।"[१]

मौलाना शिबली ने कहीं इस बात का पूरा उल्लेख नहीं किया कि आलमगीरी शासन में जो हिंदी को इतना महत्त्व मिला उसका मुख्य कारण क्या था। उनका सारा ध्यान इसी ओर लगा रहा कि आलमगीर हठधर्मी अथवा हिंदू-विद्वेषी न था। किंतु यह अच्छी तरह विदित है कि आलमगीर कट्टर हनीफी मुसलिम बाद-शाह था और इसलाम के आदेश के अनुसार ही राजकाज करता था। हिंदी का प्रश्न उसके लिए धर्म का प्रश्न न था जो उससे कुढ़ता। उपयोगिता की दृष्टि से वह हिंदी को महत्व देता था और फारसी को रंगभरी कविता से कुछ परहेज करता था। उसकी दृष्टि में धर्म के विचार से हिंदी का भी वही स्थान था जो फारसी का। उसके लिये फारसी हलाल और हिंदी हराम न थी। लोक के मंगल और शासन के सुभीते के लिये वह हिंदी को फारसी से कहीं अधिक उपयोगी और लाभप्रद समझता था। कदाचित् इसी का यह परिणाम था कि उस समय के ठटके फारसी लोग भी हिंदी की ओर लपक पड़ते थे और उसमें रचना कर अपने को धन्य समझते थे।

१—मुकालाते शिबली, जिल्द दोयम, मारिफ़ प्रेस, आज़मगढ़, सन् १९३१ ई०, पृ० ९३।

मौलाना शिब्ली की गवाही है कि

"अमीर ईरान का एक मशहूर शाइर था। वह आलमगीर के जमाना में ईरान से आया और शाही मनसबदारों में मुकर्रर हुआ। उसने भाषा ज़बान में इन्तहा दरजा का कमाल पैदा किया। अगरचे भाषा व संस्कृत के अल्फ़ाज़ का वह सहीह तलफ़्फ़ुज़ नहीं कर सकता था, ताहम उस ज़बान में निहायत बरजस्ता अशआर कहता था। हिंदी में उसका तख़ल्लुस 'पथी' था। 'थार जातक' जो मौसीकी में हिंदी जबान की मशहूर किताब है, उसका तरजुमा उमी ने फ़ारसी जबान में किया।"[1]

'बरजस्ता अशआर' से प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह हिंदी का 'आशु' कवि हो गया था और उस समय हिंदी का सीख लेना आसान था—उसी हिंदी का जो आज वक्रदृष्टि से देखी जा रही है और केवल पंडितों की भाषा कही जाती है !

हाँ, आलमगीर कट्टर होते हुए भी धर्मांध न था। वह नीति और धर्म के भेद को समझता था। हिंदी के महत्त्व को भली भाँति जानता था—हिंदी के कवियों को दरबार में संमान से रखता था। उनकी नीतिमयी कविता का ही सत्कार करता था। विषयवासना से दूर रहकर वह सत् कविता का प्रचार चाहता था, भोगविलास का विज्ञापन कदापि नहीं। कहते हैं कि वृंद कवि को उसकी ओर से दस रुपए प्रतिदिन मिलते थे। फिर भी खरी बातों के कहने में वह तनिक भी नहीं चूकते थे। और समय पा—

१—मुकालाते शिबली, वही, पृ० ८५।

कर कुछ खरी खोटी भी सुना ही देते थे। उनका एक छंद है—

"यहौ शाह औरंग कहावत हो पातिशाह,
आप ही विचारो यह कैसी सुवहानगी।
जब महाराज लाल ने डेरा लगाइ लूटे,
तब क्यों न लरिकै दिखाई तेग वानगी ?
देस पर देस सूवा केतक इनाम दीन्हे,
कीन्ही दिलजोई प्यार परवानगी।
जब जसवंत सुरपुर को सिधाए तब
तेग बाँध आए, यह कैसी मरदानगी ?"[1]

शाही दरबार में वृंद कवि का प्रवेश सन् १६७३ ई० में हो गया था और जसवंतसिंह का निधन सन् १६७८ ई० में हुआ। अतएव यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वृंद दरबारी होते हुए भी दरबार की खरी आलोचना कर सकते थे। यही नहीं, कहा तो यहाँ तक जाता है कि औरंगजेब ने भूषण को चुनौती देदी थी कि भला वह मुझे उत्तेजित तो कर दे। भूषण चूकनेवाले जीव कब थे ? चट उन्होंने ललकारकर उच्च स्वर से कहा

"किवले की ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है !
बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै मारि डार्यो,
मेहर हू नाहिं माँ को जायो सगो भाई है !

१—सतसई सप्तक, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् १९३१ ई०, पृ० ११५।

बंधु तौ मुरादबकस बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
'भूषन' सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हें तब पातसाही पाई है॥"[१]

भूषण का वार खाली गया। औरंगजेब टस से मस न हुआ। पर भूषण की प्रतिभा ने उसकी भावभंगी से ताड़ लिया कि लक्ष्य कहाँ और क्या बनाना चाहिए। निदान और भी उबल कर बोल पड़े

"हाथ तसबीह लिए प्रात उठे बंदगी को,
आप ही कपटरूप कपट सुजप के।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय लीन्हों,
छत्र हू छिनायो मानों मरे बूढ़े बप के॥
कीन्हो है सगोत घात सो मैं नाहिं कहौं फेरि,
पील पै तुरायो चार चुगल के गप के।
'भूषन' भनत छरछंदी मतिमंद महा,
सौ सौ चूहे खाइ कै बिलारी बैठी तप के॥"[२]

निशाना ठीक बैठा। औरंगजेब तिलमिला उठा। भूषण ने इस बार जो कुछ कहा था वह अंशतः असत्य और मर्मभेदी

१—भूषण ग्रंथावली (शिवाबावनी, कवित्त १२) हिंदी भवन, लाहौर, सन् १९३७ ई०, पृ० ३०१।
२—वही, कवित्त १३, पृ० ३०४।

था। औरंगजेब पक्का 'नमाज़ी' [1] था। इसमें तनिक भी 'कचाई' न थी। 'छरछंदी' ने उसके मूल ही को उड़ा दिया।

यह भूषण और औरंगजेब के संबंध में अधिक छानबीन करने का अवसर नहीं। भूषण को औरंगजेब का दरबारी कवि मानने में कोई ऐसी अड़चन नहीं कि इस कथा को सहसा गप्प कह दें। उनके बड़े भाई अथवा सगे संबंधी चिंतामणि शाहजहाँ के दरबारी कवि [2] थे ही और उनके ही निवासस्थान तिकवाँपुर के वीरबल बादशाह अकबर के सब कुछ। अस्तु, आलमगीरी दरबार से भूषण अलग क्यों हो गए ? यह भी प्रत्यक्ष ही है। इसके कहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, प्रसंगवश औलिया आलमगीर की वीरता भी देख लीजिए। बात दक्षिण की है—

"गढ़न गढ़ी से गढ़ि महल मढ़ी से मढ़ि,
बीजापुर ओप्यो दल मलि उजराई में।
'कालिदास' कोप्यो वीर औलिया अलमगीर,
तीर तरवारि गह्यो पुहमी पराई में॥
बूँद तें निकसि महि मंडल घमंड मची,
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।

१—दाराशिकोह औरंगजेब को 'नमाज़ी' कहता था। उसके हार जाने से नमाज पर औरंगजेब की आस्था और भी दृढ हो गई और वह पक्की दृढता से 'नमाज़' का पालन करने लगा। भूषण का लक्ष्य इसीलिये ठीक बैठ गया।

२—हिस्ट्री आव शाहजहाँ, डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९३२ ई०, पृ० २६०।

गाढ़ि के सुझंडा आइ कीन्ही पादसाह ताते,
डकरी चामुंडा गोलकुंडा की लड़ाई में ॥"[१]

कालिदास की भाँति कृष्ण, सामंत आदि अनेक दरबारी हिंदी कवियों ने औलिया आलमगीर का गुणगान किया है, पर उनपर विचार करना इष्ट नहीं। यहाँ हमें यह सिद्ध कर दिखाना है कि औरंगजेब हिंदी में कविता करता था और हिंदी को आदर की दृष्टि से देखता ही नहीं प्रत्युत उसका प्रचार भी भरपूर करता था।

संगीत रागकल्पद्रुम के सुधी संपादक श्रीनगेंद्रनाथ वसु का यह कथन ठीक ही है—

"जिस औरंगजेब को कितने ही लोग दारुण देवद्वेषी और हिंदू विद्वेषी समझते हैं उनके रचित पद पढ़ने से इस विषय में घोरतर संदेह होता है कि वास्तविक वह हिंदू विद्वेषी थे या नहीं। शायद लोग कहें—औरंगजेब का नाम रहते भी यह पद औरंगजेब के खास बनाए नहीं, किसी हिंदू ने ही लिखे होंगे। इस बात का यह उत्तर दिया जा सकता है—यह यदि प्रकृत हिंदू विद्वेषी ही होते, तो उनके समय उन्हीं के नाम से ऐसे गान प्रचारित होने की कभी संभावना न थी।"[२]

'हिंदूविद्वेष' की बात अभी अलग रखिए। जो औरंगजेब विकट संगीतद्रोही प्रसिद्ध किया गया है उसके मुँह से कोई गाना कब सुनाई पड़ सकता था? पर यथार्थ बात कुछ और ही है।

१—शिवसिंह सरोज, वही, पृ० २८।

२—संगीत रागकल्पद्रुम, दूसरा खंड, संवत् १९७३, वही, परिचय, पृ० ६।

लोगों ने औरंगजेब को बदनाम भी कम नहीं किया है। औरंगजेब संगीत का द्रोही नहीं, रागरंग अथवा भ्रष्ट और अश्लील गानों का शत्रु था। उन्हीं को रोकने के लिये उसने कड़ी आज्ञा निकाल दी थी और संगीत के जनाजे को कसकर खूब गहरा दफनाने को कह दिया था। वह भी अपने शासन के ग्यारहवें वर्ष में, गद्दी पर बैठते ही नहीं। अच्छा, शाह औरंगजेब का 'जश्न' किस ढब से हुआ तनिक इसे भी देखलें—

"उत्तम लगन शोभा सगुन गिन गिन ब्रह्मा विष्णु महेश
व्यास कीनो शाह औरंगजेब जसन तखत बैठो आनंदन।
नग खेंच दाम बिसात वर गायन मोहनप्रत ब्रह्मा रचौ तिन
मध गायन गुनी जन गावत तिनके हरत दुखदंदन॥
एक निर्तत निर्तत लास तांडव रंग भावन एक वनवावत
वंदिक पंडित कर कवि सरस पूरण चदन।
'शाह औरंगजेब' जगत पीर-हरण लोक तारे निस्तारे
फंदे ही रहत दुख दारिद्र के गंजन॥"[1]

औरंगजेब के भी हृदय था और था उस हृदय मे एक जीता जागता दुलारा दिल। उस दिल का पता बहुतों को नहीं है। पर इतिहास उसको अच्छी तरह जानता और हिंदी साहित्य तो उसे पहचानता भी खूब है। देखिए न

"चरण धर धर मेरे गृह लालन भय खाए आए मेरे।
तनके दुख सब दूर गए सुख आए मेरे नेरे॥

१—संगीत राग कल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० १६१।

मृदंग बजावहु मंगल गावहु भागन ही पाए
कर रही प्रथम ही जतन बहुतेरे।
'साह औरंगजेब' प्रीतम अब मैं धन जनम कर मानत
जब अँखन भर हेरे।"[1]

अच्छा, तो वह भावती है कौन ? तनिक उसे भी सुन लीजिए—

"तुव गुण रवि उदै कीनो याही तें कहत तुमकों बाई उदैपुरी।
अनगिन गुण गायन के अलाप विस्तार सुर जोत दीपक जो
तोला सों दिया है दुरी॥
जब जब गावत तब तब रससमुद्र लहरें उपजावत
एसी सरस्वती कौन कों फुरी।
जानन मन जान 'शाह औरंगजेब' रीझ रहे याही तें
कहत तुमको विद्यारूप चातुरी॥"[2]

याद रहे यह वही 'उदैपुरी' (महलें) है जो दाराशिकोह के निधन के उपरांत औरंगजेब के हाथ लगी थी और जीवनभर उसकी लाड़ली बनी रही। उसने आलमगीर के औलियापन को भी भुलवा दिया था। वह उससे बराबर मनमाना काम कराती रहती थी। उसी के प्रेम के कारण औरंगजेब उसके पुत्र

१—संगीत रागकल्पद्रुम प्रथम खण्ड, वही, पृ० १३४।
२— ,, ,, ,, पृ० २४३।
३—उदैपुरी महल में 'महल' का वही अर्थ है जो मुमताज महल में महल का। महल मुगल बेगमों की आदर सूचक उपाधि है।

कामबख्श के अपराधों को क्षमा कर देता था।[1] अब यदि औरंग-जेब का पक्का काम-कौतुक देखना चाहें तो हीराबाई[2] का प्रसंग

1— 'She seems to have been a very young woman at the time as she first became a mother in 1667 She retained her charms and influence over the Emperor till his death, and was the darling of his old age Under the spell of her beauty he pardoned the many faults of Kam Bakhsh and overlooked her freaks of drunkenness which must have shocked so pious a Muslim

सर जदुनाथ सरकार रचित ए शार्ट हिस्ट्री आव औरंगजेब, एम सी सरकार एंड संस, सन् १९३०, पृ० १५—

२—Hira Bai, Surnamed Zainabadi, was a young slave girl in the keeping of Mir Khalil, who had married a sister of Aurangzib s mother During his viceroyalty of the Deccan the prince paid a visit to his aunt at Burhanpur There while strolling in the park of Zainabad on the other side of the Tapti, he beheld Hira Bai unveiled among his aunt s train The artful beauty on seeing a mango tree laden with fruits, advanced in mirth and amorous play, jumped up and plucked a mango, as if unconscious of the prince s presence The vision of her matchless charm stormed Aurangzeb s heart in a moment ' With shameless importunity he took her away from his aunt s house and became utterly infatuated with her so much so that one day she offered him a cup of wine and

देखें और अच्छी तरह जानलें कि वह प्रेम के प्रमाद में पड़कर शराब पीने तक को उद्यत हो गया था, पर उसकी प्रिया ने ही उसे ऐसा करने नहीं दिया। अस्तु,

"तोहि अति भावे री 'शाह औरंगजेब' उजारो।
दरस देखे ते रोम रोम सुख होत है री डर होत है री
दुख अधियारो॥
एक रसना अस्तुति कैसे करों कही जाय प्राण हूँ ते प्यारो।
राखोंगी हिय में दुराय कर नेक न करिहों न्यारो॥"[१]

पर बातों से कहीं पेट भरता है! उसके लिये तो

"अब घरी आवत है री लाल माई री अबध को दिन आज।
वेग प्रफुलित भयो सुगंध मंजन कर कर आभूषण
बसन बनाय पहरे प्यारी तबही अरगजा मेदत
लगाए तब होवें मनभावतो काज॥
यह देखो वे गए मनमोहन बलमा अंतरयामी

---

pressed him to drink it. All his entreaties and excuses were disregarded, and the helpless lover was about to taste the forbidden drink when the sly enchantress snatched away the cup from his lips and said, "My object was only to test your love for me, and not to make you fall into the sin of drinking."

- A short History of Aurangzib. Ibid. pp. 15-16.

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० १९९।

स्वामी कचन धरण कारण विरहन कारण तेरे
अनगन मानो पतितन को दीनो सुख समाज।
'शाह औरंगजेब' लीनी गलेही लगाय कीनीं निहाल
तोहे वाल दीनो ढिग पिय सुहाग भाग आनंद राज ॥"[1]

किंतु किसी वहुवल्लभ की प्रीति कैसी ? अंत मे द्वेष उत्पन्न हो ही जाता है और विवश हो कहना पड़ता है—

'वहोत भावत है वह तुमे होई नीके कर जानत।
इतनो तोहू कान करो तुम पसी न बूझिए जो मेरे ही आगे
वाहू को नाम टानत ॥
दैया कैसे अपनी टेक के नेकहू लाज जीय में नहीं आनत।
'शाह औरंगजेव' वहोत भले हो हाँ चोरी जो ये वातें वखानत॥"[2]

'वहुत भले' शाह औरंगजेब की भली बातों का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? कट्टर हनीफी शासक हो जाने पर भी उसने हिंदी को कड़ी निगाह से कभी नहीं देखा, वल्कि उसके प्रभुत्व में आ जाने से फारसी का सोता सूख चला। इसी फारसी की उदासी के कारण लोग आलमगीर की भाषानीति को कुछ खट्टी समझते हैं और रसिकता की दृष्टि से उसे थोड़ा बहुत कोस भी लेते हैं। पर यथार्थ स्थिति यह है कि वह वरावर साधु कविता को प्रोत्साहन देता और भली भाँति उसका आस्वादन करता था। उसके संबंध मे वख्तावर खाँ का कहना है कि वह गद्य का अच्छा

१—संगीत राग कल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० २६३।
२— ,, ,, ,, पृ० २८६।

लेखक था और पद्यरचना में भी अभ्यस्त था, किंतु उसमें अधिक लीन नहीं होता था। कारण यह था कि कुरान मजीद में कह दिया गया है कि कवि झूठी बातों में मग्न होते हैं। अतएव वह उन्हीं काव्यों पर ध्यान देता था जिनमें सदाचार हो। वह परमात्मा का प्रिय बनने के लिये कभी चापलूसों और भाटों की विरदावली न सुनता था[1]। तात्पर्य यह है कि औरंगजेब ने अपने आप को हनीफी अल्लाह पर निछावर कर दिया और वह बराबर वही करने में मग्न रहा जिसकी आज्ञा उसे उसके इस्लाम से मिलती रही।

औरंगजेब को पूरा पूरा पता था कि इसलाम की जानकारी के लिये अहिंदी भाषाओं की चाहे जितनी आवश्यकता हो, पर शासन के सुभीते और इसलाम के प्रचार के लिये तो हिंदी ही अनिवार्य है। यही कारण है कि शासन की बागडोर हाथ में आते ही उसने मजहबी उस्ताद का स्वागत नहीं किया, प्रत्युत वह उनसे पूछ बैठा कि जनाब आपकी पढ़ाई आज हमारे किस काम में आ रही है? उससे शासन और राज्यप्रबंध में कहाँ तक सहायता मिल सकती है?[2] सारांश यह कि औरंगजेब ने हिंदी की शिक्षा पर ध्यान दिया और उसका प्यारा पुत्र आजमशाह हिंदी का

१—मुग़ल इम्पायर इन इंडिया, दूसरा भाग, एस० आर० शर्मा, करनाटक हाउस, चीरा बाज़ार, बंबई, सन् १९३४ ई०, पृ० ६३२ पर अवतरित।

२—औरंगजेब ने अपने अरबी उस्ताद से जो कुछ कहा था उस पर विचार करना प्रत्येक सत्यनिष्ठ मुसलिम का कर्तव्य है। धर्म से मातृभाषा का क्या महत्त्व है इसे कोई कट्टर हनीफी औरंगजेब से सीख ले। बर्नियर

इसका उल्लेख इस प्रकार करता है—

"A familiarity with the languages of surrounding nations may be indispensable in a king, but you would teach me to read and write Arabic, doubtless conceiving that you placed me under an everlasting obligation for sacrificing so large a portion of time to the study of a language wherein no one can hope to become proficient without ten or twelve years of close application. ....Can we repeat our prayers or acquire a knowledge of law and of sciences only through the medium of Arabic? May not our devotions be offered up as acceptably and solid information communicated as easily, in our mothor tongue * ?"

देखिए Education in Muslim India by S. M. Jaffar, M. A., M. R. A. S, (London), Ripon Printing Press, Butt Road, Lahore, 1936, pp. 177–178.

* ध्यान देने की बात है कि औरंगजेब सा कट्टर हनीफी सुन्नी मुसलिम बादशाह जन्मभाषा को ही महत्त्व देता है कुछ अरबी, फारसी अथवा किसी विलायती भाषा को नहीं। उसके विचार में तो अल्लाह की बंदगी अथवा भाव भजन और कीर्तन भी अपनी भाषा में ही खूब होता है। होता भी क्यों नहीं? क़ुरान मजीद का आदेश भी तो यही है कि व मा अर्सल्ना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसान कौमहिलेयुबेयनल्हुम्" (सूरत इब्राहीम की आयत ४।) अर्थात् 'और नहीं भेजा हमने कोई पैग़ंबर मगर साथ ज़बान कौम उसकी के, जो कि बयान करे वास्ते उनके।" (शाह रफ़ीउद्दीन देहल्वी का किया उल्था)

संग्राम में खेत रहा और दारा की भांति अपने जीवन के स्वप्नों को समेट कर कयामत के लिये सो रहा।

विहारी-सतसई के आजमशाही क्रम के संबंध में कहा जाता है कि वह इसी आजमशाह के आदेश पर प्रस्तुत किया गया था। परंतु अब सिद्ध किया गया है कि उसका संबंध आजमगढ़ के बसानेवाले गौतम आजमशाह से है। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि यह आजमशाह ब्रजभाषा का बड़ा भारी भक्त था और इसी के अध्ययन के लिये जनाब मीरजा खाँ ने 'तोहफतुलहिंद' नाम की एक अनूठी पुस्तक लिखी। पुस्तक की रचना का ठीक समय मालूम न हो सका। पर उसके 'ब्रजभाषा व्याकरण' के संपादक प्रोफेसर जियाउद्दीन साहब का कहना है कि वह सन् १६७६ ई० या उससे भी कुछ पहले रची गई। यदि यह ठीक है तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यह काम आलमगीर की रुचि से हुआ। आलमगीर आजमशाह को बहुत मानता था। यही उसका सर्वप्रिय धुरीण पुत्र था। इसका जन्म सन् १८५३ ई० में हुआ था। क्या यह सम्भव नहीं कि आलमगीर ने राष्ट्रभाषा की उचित शिक्षा के लिये ही इस अनुपम ग्रंथ का सृजन कराया हो और अपने लाड़ले पुत्र को उसमें पारंगत देखना चाहा हो? जो हो, पर इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि मीरजा खाँ ने ब्रजभाषा को ही शिष्ट भाषा माना है और उसी के कोप का संपादन भी किया है। उसका साफ साफ कहना यह है—

"व जबान अहलब्रज अफसह जबानहा अस्त ऑचि मियान दोआब गंगा व जमुना कि दो रूद मशहूर अंदबाकाशुदः अस्त, मिस्ल चंदवार वगैरः, व फसाहत मंसूब अस्त। व चंदवार नाम

मौजए अस्त मारूफ़ व मशहूर। व चूँ ई ज़बान शामिल। अशआर रंगीन व इवारत शीरीं व वस्फ़ आशिक व माशूक अस्त, व दर ज़बान अहल नज़्म व साहब तबा बेश्तर मुस्तामल व जारी अस्त। बिनावराँ बक़ुवायद कुल्लियः ऑ परदाख़तः आमद।"

मीरजा खाँ के उक्त कथन से स्पष्ट है कि व्रजभाषा ही उस समय की शिष्ट और काव्य भाषा थी। इसी की शिक्षा मुगल शाहज़ादों को दी जाती थी और इसी में मुगल कविता भी करते थे। अभी तक उर्दू जैसी किसी अलग भाषा का नाम न था। शाहज़ादों को अरबी, फ़ारसी, तुर्की और व्रजभाषा की शिक्षा दी जाती थी। कहना न होगा कि इनमें केवल व्रजभाषा ही राष्ट्रभाषा थी और शेष सभी परदेशी या विल[illegible]भाषाएँ थीं।

ही क्या थी कि उसे गढ़ कर वे देश मे वैमनस्य का बीज बोते और सच्ची राष्ट्रभापा का सच्चा प्रचार न करते ? अस्तु;

दो दिन के लिये हमारे आजमशाह भी बादशाह बन गए थे और अंत में तख्त के लिये शहीद हो गए। उनकी रचना का नमूना यह है। उनकी नायिका कहती है—

"निपट कर जो दुराव करत मोसों हौं नहीं जानत
पीय अधिक चतुर तुमही और हौंही अयानी।
कोटि यतन करत है नित गुण कर प्यारे तुम्हारे
देखीयत जे करत फिरत घर घर मनमथ के बस
ज्यों तिया अंग संग रग करत बहु ज्ञानी॥
अटपटी पाग पेच लटपटे कीन्हे बोलत मंद वचन
चक कहत कहानी।
'शाहआजम' विचित्र छत्रपति की बातें तेऊ मेरे
जान पाई तब त्योंही मुबारक ना आवत तुम्हारी।
गत हम मन वच क्रम कर पहचानी॥"[1]

नायक भी कुछ कम नहीं है। कुछ उसकी भी तो सुनें, वह क्या कहता है। उसकी परख देखिए—

"प्रगट चतुर बरने नारी तेरे किधौं खंजन कमल फसे
कहे कटाक्ष मात पिता मुख सुख सागर जे
पकज कछाय सरोवर में मीन करत कलोल।

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वहीं, पृ० २९६।

किधों चंद द्वै सुतन गोदन बैठो कजरा भोहें
डाड़ी कर पुतरी न होय दोउ पल कीनो आली री
तामेरो विध अनूप रूप जोवन छवि तोल॥
मुग्ध सुख सलिता विच द्वै नाव फिरत भावभरी
वरनो ओप सोहत किधों जुग कुरंग फंदे हो
खंजन फंद खुलत न खोल।
किधों जुगल मंजोर पल कपाट मूंदत खोलत काम भंडारो
'साह आजम' के हुकुम ते तोल देत जात चिंव कटाक्ष
हीरा मुक्काहल सों तोल तोल मोल अमोल॥"[1]

आजमशाह के जाजऊ में जूझ जाने से शाह आलम का कंटक दूर हुआ। आलमगीर का छोटा पुत्र कामबख्श तो चहेती का पुत्र होने के कारण शोख हो गया था और अपने को बहुत कुछ समझने लगा था। 'दीनपनाह' के खिताब से उसने भी दो दिन के लिये दक्षिण में राज्य कर लिया, पर अंत में वह युद्ध मे पकड़ा गया और घाव की कठोरता के कारण, उपचार करने पर भी, जीवित न रह सका। उसकी 'दीनपनाही' किस काम की? वह तो काम, क्रोध और लोभ का पुतला था। उसका अंत अपनी ही वासना का फल था। शाहआलम ने तो उसको पूरा सुख दिया था। पर वह 'तख्ता' या 'तख्त' चाहता था। 'तख्त' तो नसीब न हो सका। हाँ, 'तख्ता' मिल गया।

शाह आलम बहादुर शाह के नाम से बदशाह हुए और

1—सटीन रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० १८१।

भरसक आलमगीरी घाव को भरने का प्रयत्न करते रहे। आलमगीर के शासन में उन्हें कुछ राज्य की चिंता रहा करती थी। स्वभाव की भिन्नता के कारण वे कठोर औरंगजेब के प्रेमपात्र न बन सके। आजमशाह आलमगीर का प्रिय पुत्र था, तो कामवख्श उसको भावती प्रिया का औरस। शाह आलम की चिंता सचेष्ट थी। उनकी सांत्वना के लिये एक दिन 'आलम' ने कह ही तो दिया—

"जानत औलि कितावनि को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हे
पालत ही इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे।
'मोजमशाह' तुम्हैं करता करिबे को दिलीपति हैं वर दीन्हे।
काबिल हैं ते रहैं कितहूँ, कहूँ काबिल होत हैं काबिल कीन्हे ?"[1]

आलम के हृदय से जो बात निकली थी उसकी सुनवाई हो गई और 'मोजमशाह' शाहआलम बहादुरशाह के नाम से बादशाह हुए। बहादुरशाह की बादशाहत केवल पाँच वर्ष रही; पर इतने ही समय में उसने सिद्ध कर दिया कि वह कट्टर आलमगीर का बेटा ही नहीं, उदार और सहृदय शाहजहाँ का पोता भी है। भाषा और संस्कृत से उसे प्रेम था; संगीत का शौक था और था समूची जनता के लिये उसके कोमल हृदय में स्थान। उसके सिंहासन पर आरूढ़ होने से हुआ यह कि

"मुबारक जशन नौरोज़ भयो जातें भयो जनम थवण कों
जो पुनि देखो बदै दिल्ली तखत को।

१—शिवसिंह-सरोज, वही, पृ० १०।

कोटि कहत धन हम ज्यों इच्छा भई सबन की विधना राखे
राज कायम साह आलम बादशाह पृथ्वीपति को ॥
आनंद हुलासन गुणीजन गावत बजावत पावत जरी सरोपाव
तुरग पावै हम तुम तें समरथ रविरथ कों।
असीस देत सुरभावन अटल रहे तुमारे अब्बा कीनों
तुमकों सजाई सदा रहो हिम्मत कों ॥"[१]

शाहआलम की हिंदी निष्ठा के विषय मे कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं। वह एक हिंदी माता की कोख से उत्पन्न हुआ था और हिंद ही को अपना घर भी समझता था। फिर हिंदी को क्यों न अपनाता? उसके एक पद को लीजिए और देखिए कि उसमे किस कोटि का कवित्व है। उनकी वियोगिनी नायिका कहती है—

"दिन गिनत हारी कठिन भई कर पल्लव री अब कौन सों कहो
री मे यह दुख बतीयाँ।
कौलो धीरज धरो अपराधन पीत लगन नया दुख होरी
घन घन मेरी निठुर छतीयाँ ॥
जौलौं दरशन देखूँ प्राणपति को तौलौं आनद लहों आली री
बस सुप्यास केसी होत कहा भयो जो पीय पठाई पतीयाँ।
'शाह आलमशाह' के बिन मिले कहा ठाकुर होत है और दूसरे
अब आवत री बैरिन रतीयाँ ॥"[२]

१—सगीत रागकल्पद्रुम, वही, पृ० १९३।
२— „ „ „ पृ० ३०१।

बहादुरशाह के आँख मूँदते ही मुगलों पर विपत्ति का बादल टूट पड़ा। चारों ओर घने अंधकार की वर्षा होने लगी। लड़भिड़कर किसी तरह मुइजउद्दीन जहाँदार शाह बादशाह हुए तो उन्हें लालकुँवरि के आँचल में ही सब कुछ दिखाई देने लगा। त्रिलोक की इस झाँकी को छोड़कर राज्य की चिंता कौन करता? लालकुँवरि भी कोई नूरजहाँ न थी कि शासन की बागडोर सँभालती और सामंतों को मनमाना नाच नचाती। हुआ भी वही जिसकी तैयारी इस तरह हो रही थी। लालकुँवरि चिमटती और चिल्लाती ही रही कि उसके अंक से छीनकर हत्यारों ने जहाँदारशाह की लीला समाप्त कर दी। 'मुइजउद्दीन' सा मनचला और मौजी मुगल कविता न करे, यह हो नहीं सकता। पर उसके पदों का संग्रह कहाँ है? जो है वह भी इतना अल्प और अपूर्ण है कि उसके विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी हम देखते हैं कि वह 'मौज' के नाम से कविता करता और हमारे लिए यह गान छोड़ जाता है—

"कौन जाने री सखी मन की बात बिरानी।
भली बुरी बीतत है जापै वोही वहै पहिचानी॥
सार बिरह की सोई जानैं, जाके लगी तन मानै।
'मौज' इस राह में बहोत गए हैं मल मल हाथ सयाने।"[1]

तो फिर

"मोरे गरवाँ फुलवन को हरवा।
रात चोरचोरी आन कर डार गयो प्यार से सुंदर मीत पियरवा॥

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० ४६९।

हाँ तो ऐसी नींद को मातो करवटीयाँ न लई सारी रतया।
नेक जागती जो अपनी 'मौज' से न छोड़ती मैं उनको अचरवा।"[1]

कहते हैं कि जहाँदारशाह की संत सूफियो से विशेष पटती थी। बात है भी ठीक। यदि जहाँदारशाह शाही शाह न बनकर सूफी शाह बनते तो उनका रंग और भी चोखा जमता और वह 'इश्क' के अखाड़े मे कुछ कर दिखाते। पर उनके भाग्य मे तो तख्त के लिए शहीद होना बदा था!

लालकुवेंरि से करते धरते तो कुछ भी न बन पड़ा वह स्वयं लोगों की आँख में चढ़ गई। उसके संबंधी भी कुछ शाही रोब में आ गए, जिससे सामंतो और अमीरों का अमर्ष बढ़ा और लोग भीतर ही भीतर जहाँदारशाह से कुढ़ने लगे। उधर फर्रुखसियर की माँ बड़ी आन की औरत थी। सैयदबंधुओं की सहायता से उसने बहादुरशाह के पोते को उसकी गद्दी पर बैठा ही तो दिया। पर अंत में माँ-बेटे से शासन का काज चल न सका और सैयदबंधु भी रक्षक से शत्रु बन गए। फिर तो बादशाहत का वह हुरदंग मचा कि अन्तःपुर भी उससे काँप उठा। हरम में कुहराम मचता और कोई शाहजादा पकड़कर शाह बना दिया जाता। फिर वही तख्त की शहादत (बलि) उसे नसीब होती।

फर्रुखसियर सा सुडौल और सजीला 'ज्वान' जिस तरह कैद किया गया, फिर अंधा किया गया, और पानी के लिए तरसा-तरसाकर अंत में बेगमों के व्यूह से घसीट-घसीटकर, घोर चीत्कार करता हुआ, कुत्ते की मौत मारा गया—इसका वर्णन ही क्या?

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० ४६९।

फर्रुखसियर खेला-खेला कर बधे गए और आलमगीरी गद्दी पर फूँक के बुलबुले बैठते रहे। कोई आज उठा तो कल मिटा और कोई कल बना तो परसों विलट गया। बात की बात में तीन तीन शाहजादे बादशाह बने और फिर कहीं के न रहकर विलीन हो गए। अब चौथे की बारी आई। बेचारा उर्दूएमुअल्ला (लाल किला) से दूर किसी कोने में अपना जीवन बिता रहा था कि अचानक उसकी खोज हुई और वह दिल्ली की गद्दी पर बैठा दिया गया। वह जरा कड़ा पड़ा तो सैयदबंधुओं का काम तमाम हुआ और फिर बाबरी जोश दिखाई देने लगा। पर अंत में वह भी 'रंगीला' निकला और सड़ी ठठरी में बल न ला सका। उसके शासन में जो खेत जमे उनके फल आज भी हमारे सामने हैं। उनमें से एक उर्दू का बिरवा है जो अब सरकार की कृपा से अमरबेलि के रूप में सभी देशभाषाओं पर फैलता जा रहा है और अपने आश्रय को चूसकर प्रति दिन सुखाता जा रहा है। उसको पनपाने की जो चेष्टा हो रही है वह आपके सामने है। पर उसके मूल से आप अपरिचित हैं। उसके भेद से अभिज्ञ होना आपका धर्म है और राष्ट्र का कल्याण करना आपका काम।

तो क्या आप जानते हैं कि सैयदबंधुओं के प्रभुत्व मे आ जाने से भरी किनके घर पड़ी ! उन्हीं ईरानी तूरानी अमीर सरदारों के, जो जीने और बहार लूटने के लिए धीरे से हिंदुस्तान मे उतर आते थे और कभी कवि, कभी मनसबदार बनकर चैन की बंसी बजाते और कभी कभी दो-चार हाथ दिखा देते थे। कवियों की जीविका तो औरंगजेब के हाथों कठिन हो गई, पर उसकी सारी कसर मनसबदारी से निकल आई। उसकी सेना

का संचालन सचमुच उन्हीं के हाथ मे चला गया और प्रति दिन उनकी संख्या बढती गई। ईरानी तूरानी सर्वत्र छा गए। औरंगजेब की नीति से ऊबी हुई जनता को बहादुरशाह से जो आशा बँधी थी वह भी टूट चली थी कि सैयदबंधुओं का उदय हुआ। फलतः फिर हिंदुस्तानियों[1] को महत्त्व मिला। बहादुरशाह ने न जाने क्यो अपने आप को 'सैयद' कहा था और शीया मत को अपना सा लिया था, पर सैयदबधु तो सचमुच सैयद और 'बारहा' शीया थे। नाम भी 'हसन' और 'हुसेन' था। ('हुसेन' का बध भी धोखे से हुआ।)

'सैयदों' के प्रभुत्व में आने से देहली का परदेशी दल घबरा उठा। उसके लिए संसार सूना हो गया और वह सैयदबधुओं के फेर में पडा। सैयदबधु हिंदुस्तानी थे और थे हिंदुस्तानियों के पक्षपाती। किंतु कूटनीति की वह कुजी उनके हाथ न लगी थी जो मुट्ठी भर परदेशियो को देशी जनता पर भारी रखती है। फलत उनका पतन हुआ और देशी मुसलमान पर-

१—इरविन महोदय ने सक्षेप मे इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—"In opposition to the Mughal or foreign, was the home-born or Hindustani party It was made up of Muhammedons born in India, many of them descended in the second or third generation from foreign immigrants Men like Sayyids of Barha, for instance, whose ancestors had settled in India many generations before, of course, under the description of Hindustani or Hindustanza (Indianborn)' पूरे विवरण के लिए देखिए मुग़ल इंपायर इन इंडिया, तीसरा भाग, वही, पृ० ५४४-४५।

देशी मुसलमानों के चकमे में आ गए। पर समय पलटा खा चुका था। मरहठे सचेत हो गए थे और फिरंगी भी धीरे धीरे पाँव पसार रहे थे। अतः फिर कभी ईरानी तूरानी शासन जम न सका। परंतु वह एक ऐसा बीज बोता गया जो आगे चलकर अँगरेजी नीतिज्ञों की कृपा से और भी भयंकर हो उठा और राष्ट्र के जीवन के लिए परम संहारक सिद्ध हुआ।

सैयद बंधुओं ने जिस शाहजादे को अब तख्तताऊस पर बिठाया उसका नाम था मोहम्मद रोशन अख्तर। उसकी माँ बहुत ही नीति निपुण तिरिया थी। उसने देखा कि मेरा बेटा मोहम्मदशाह कहने को तो बादशाह है, पर है वस्तुतः सैयदबंधुओं के हाथ की कठपुतली। निदान उसने भी परदेशी दल का साथ दिया और मोहम्मदशाह को उक्त सैयदबंधुओं से स्वतंत्र किया। सैयदबंधुओं में से हुसेनअली तो पहले ही शहीद हो चुके थे। अब हसन अली मोहम्मदशाह को गद्दी से उतारने की चिंता में आगे बढ़े तो राजपूतों के हृदय में यह भाव जगा—

'ऐसी नाकरी है काहू आज लौं अनैसी जैसी
सैयद करी है ये कलंक काहि चढ़ैंगे।
दूजे को नगाड़े बाजें दिल्ली में दिलीस आगे
हम सुनि भागैं तो कबिंद कहा पढ़ैंगे?
कहै 'राव बुद्ध' हमें करने हैं युद्ध स्वामी
धर्म में प्रसिद्ध जे जहान जस मढ़ैंगे।
हाड़ा कहवाय कहा हारि करि कढ़ैं ताते
झारि समसेर आजु रारि करि कढ़ैंगे॥"[1]

१- -शिवसिंह सरोज, वही, पृ० १९९।

हसन अली युद्ध मे घायल हो पकडे गए और अत मे कैद में ही विष देकर मार डाले गए। इस तरह परदेशी दल ने हिंदुस्तानी दल को दबोच लिया और राजपूत अपना यश कमाने मे मग्न रहे। फिर और लोग कहाँ तक साहस और बुद्धि से काम लेते ? सभी परदेशियों के चकमे मे आ गए और इस तरह देशी दल फिर चकनाचूर हो गया। पर बादशाह मोहम्मदशाह उनके पजे में न आ सके और कुछ न कुछ अपनी सी करते रहे। निदान परदेशियों को अपनी चिंता हुई और उन्होंने अपनी जीविका का कुछ अच्छा रास्ता निकालना चाहा। उनके नेताओं में से निजामुल्मुल्क ने हैदराबाद को हथिया लिया, तो सआदत खाँ ने अवध को। मंत्री मोहम्मद अमीन खाँ ने जो कुछ किया वह उर्दू की ईजाद थी। उर्दू उन्हीं की कृपा का कड़वा फल है।

हाँ, तो मोहम्मदशाह को सगीत से बडा प्रेम था। वह टोडी राग का इतना अनुरागी था कि उसके बारे में यह प्रवाद प्रचलित हो गया कि यदि नादिरशाह कल आना चाहता है तो आज ही आ जाय, पर हमारे टोडी राग में खलल न डाले। कहना न होगा कि यह इसी राग का परिणाम है कि मोहम्मदशाही शासन में फिर संगीत को विशेष प्रोत्साहन मिला और 'ख्याल' तथा 'टप्पा' का आविष्कार हुआ।

मोहम्मदशाह के नाम से बहुत से ऐसे गाने सगीत राग-कल्पद्रुम में दिए गए हैं जिनपर वस्तुत उनकी छाप नहीं है। उनमें से कुछ को तो प्रत्यक्ष ही 'सदारंग' का कहा जा सकता है। पर कुछ के विषय मे पूरा सदेह है। संदिग्ध पदों को छोड देने पर भी ऐसे अनेक पद हैं जो मोहम्मदशाह के रचे हैं। उनमेंसे

कुछ की बानगी लीजिए। 'होरी' के दिनों में ट्रक उनकी 'होरी' तो देखिए। कितना साफ कहते हैं—

"होरी की ऋतु आई सखी री चलो पिया पै खेलिए होरी
अबीर गुलाल उड़ावत आवत सिर पर गागर रस की भरो री।
'महम्मदशा' सब मिल मिल खेलै मुख पर अबीर मलो री ?"[1]

और

"आओ बलमजी हमारे डेरे।
अबीर गुलाल मलों मुख तेरे होरी के दिनन मोसे मत उरझे रे।
जो पिया मोसे रूस रहे हो बलि बलि जाऊँ सबही घने रे।
'महम्मदशा' पिया सदाही रंगीले दूर न बसो बसो मोरे नेरे।"[2]

मोहम्मदशाह की हिंदी-रचना के विषय में कुछ विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने तो संगीत को फिर से जिला ही लिया और चारों ओर रंग की वर्षा कर चाँदनी को भी रंगीली बना दिया। उनके शासन का संदेश है—

"निश नींद न आवे न भावे मोकों पिया बिन सेज।
जैसी सदा रंगीलो चाँदनी तैसेही आभूषण ते बनिता बन आई
या समय 'महम्मद सा' सुंदर को कोऊ देहो भेज॥"[3]

किंतु, मोहम्मदशाह ने हिंदी के लिये कुछ और भी किया। वह क्या था इसे एक उर्दू अदीब (साहित्यकार) नवाब सैयद

१—संगीत रागकल्पद्रुम, दूसरा खंड, वही, पृ० ३०४।
२— ,, ,, ,, वही, पृ० ३०४।
३— ,, ,, प्रथम खंड, वही, पृ० ३०६।

हिकमत और इब्न सीना (शैखर्रईस बू अली सीना) के नुसखों के आगे दकियानूसी और घास फूस समझी जा रही और ईरानी तबीब हमारे शाहों के शाफी हो रहे थे। इनकी जगह फिरंगी डाक्टरों ने ली। ......गर्ज जब कि विदेसी तिब यों हमारा खून चूस रही थी कि मोहम्मद शाह के इकबाल से यहाँ हकीम अलवी खाँ पैदा हुए। यह वह हिंदी तबीब हैं जिन्होंने मुल्क के मिजाज को समझकर इस धर्मीन की जड़ी बूटियों से काम निकाला और इस फन (तबाबत) को गुलामी से आजाद किया। यह शाही तबीब और मोहम्मदशाह के ऐसे मिजाजशनास थे कि बादशाह को इनके बगैर दम भर करार न था।"[1]

मोहम्मद शाह के शासन की सबसे बड़ी बात, जो कभी भूली नहीं जा सकती, यह है कि इसीके समय में अनेक भाषाओं से हिंदी में उत्था किया गया।[2] आगे चलकर फोर्टविलियम कालेज में जो उत्थाघर (सन १८०० ई० में) कायम हुआ उसमें इन्हीं पोथियों में बहुत से उत्थे किए गए। आश्चर्य की बात तो यह है कि हिंदीवालों ने भी इन पुस्तकों की कोई चिंता नहीं की। रहे उर्दू के लोग। सो उन्हें इस बात को दफनाने के सिवा और क्या सूझ सकता है। उन्हें तो हिंदी को कल की चीज कर दिखाना है न ? वे हिंदीहित को कब देख सकते हैं कि इनका नाम लें !

१—मुगल और उर्दू, वही, पृ० ६७-६८।

२—उत्था जयपुर के बसाने वाले मिर्जा जयसिंह की देखरेख में हो रहा था। बेताल पचीसी और सिंहासन बत्तीसी का हिंदी अनुवाद सर्व प्रथम इसी समय हुआ। इसकी चर्चा फिर कभी स्वतंत्ररूप से होगी।

मोहम्मदशाह के संबंध में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उससे इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि वस्तुतः वह हिंदी का समर्थक है। राजनीति के क्षेत्र में वह भले ही भूलेभटके अथवा नीतिवश परदेशियों के गुट में दिखाई दे जाय, पर वास्तव में है वह हृदय से हिंदुस्तानियों के साथ। उसके इसी हिंदी हृदय का परिपाक है कि परदेशियों की 'उर्दू' कुमक मैदान में आई और धीरे धीरे मुल्क में छा गई। यदि वह जी से हिंदी का अभ्युत्थान न चाहता और परदेशियों को खुल खेलने या मनमाना करने देता तो किसी उर्दू की चिंता इस प्रकार न होती और परदेशी ठाट से मौज करते।

आलमगीर अथवा बहादुरशाह के बाद किसी मुगल बादशाह में कुछ कर दिखाने का साहस नहीं रहा। अमीरों को अपना ही जीवन भार हो रहा था फिर वह फारसी को कहाँ तक पोसते! निदान वह दिन भी आ गया कि फारसी शिक्षा की भाषा हो गई। उसको समझने के लिये अब कुछ पढ़ने की आवश्यकता पड़ने लगी। बेगमों तक में यह हाय मची कि अब मरसियों के लिये फारसी बेकार है। उनके जी को उभारने के लिए हिंदी अनिवार्य है। निदान फजली को 'करबल कथा' (करबला की कथा) की सृष्टि करनी पड़ी और फारसी को कूच का परवाना मिल गया।

नवाब फजल अली खाँ 'फजली' ने इसके संबंध में जो कुछ कहा है वह इतना स्पष्ट है कि उसके विषय में कोई संदेह ही नहीं रह जाता और बिल्कुल प्रत्यक्ष हो जाता है कि उस समय

फारसी की दशा कैसी दयनीय हो रही थी और क्यों लोग उससे किनारा कसते जा रहे थे। उनका कहना है—

"लेकिन मानी उसके (वाकआ शहादत शाह करबला) औरतों की समझ में न आते थे और फिकरात पर सोज व गदाज इस किताब मजकूरा के व सबब लुगात फ़ारसी उनको न रुलाते थे। अक्सर औक़ात वादे कितानख्वानी सब यह मज़कूर करतीं कि सद हैफ़ व सद हज़ार अफ़सोस जो हम कम नसीब इबारत फारसी नहीं समझते और रोने के सवाब से बेनसीब रहते हैं। ऐसा कोई साहबे शऊर होवे कि किसी तरह मिनवअ्न हमें समझावे और हम से बेसमझों को समझाकर रुलावे। मुझ अहक़रे अहक़र की खातिर में गुजरा कि अगर तरजुमा इस किताब का बरंगीन इबारात और हुस्ने इस्तआरात हिंदी व़रीकुल्फ़हम आम्माय मोमनीन व मोमनात कीजिए तो . . बड़ा सवाब लीजिए।"[1]

यह तो हुई नवाब फ़ज़ली के घर की औरतों की बात। अब ज़रा जनाब मिर्ज़ा मोहम्मद रफ़ी सौदा का हाल देखिए। उन्हें फारसी में शाइरी करने का शौक हुआ है। इसलाह के लिये आप खान आरज़ू की खिदमत में हाज़िर हुए। खान आरज़ू जो कुछ कह रहे हैं उसे स्वर्गीय मौलाना आज़ाद के मुँह से सुनिए और ध्यान में रख लीजिए—

"खान आरज़ू ने कहा कि मिर्ज़ा फारसी अब तुम्हारी ज़बान मादरी नहीं। इसमें ऐसे नहीं हो सकते कि तुम्हारा कलाम अह्ले-ज़बान के मुकाबिले में काबिले तारीफ हो। तबा मौज़ूँ है।

1—मुगल और उर्दू, वही०, पृ० ७५-७६ पर अवतरित।

शेर से निहायत मुनासिबत रखती है। तुम उर्दू कहा करो तो एकता-ए-ज़माना होगे। मिर्ज़ा भी समझ गए और देरीना साल उस्ताद की नसीहत पर अमल किया।"[१]

कुछ दिनों के बाद स्वयं सौदा अथवा किसी अन्य को फिर फारसी की सूझी तो फारसी के एक दूसरे उस्ताद मिर्जा फाखिर ने समझाया कि अब फारसी में कविता करना अपना उपहास कराना है। प्रसंग इस प्रकार है—

"मैं एक फ़ारसीदाँ से कहा कि अब मुझको,
हुई है वंदिशे अशआरे फ़ुर्स ज़हन नशीन।
जो आप कीजिए इसलाह शेर की मेरे,
न पाइए गलती तो मुहावरा में कहीं।
है और ज़ेरे फ़लक ज़ात मीरज़ा फ़ाखिर,
सलामत उनको रखे हक़ सदा ब रूए ज़मीन।
सो कब उन्हों को है इसलाह का किसू का दिमाग़,
क़बूल कब करें उनकी मतानते रंगीन।
कहा यह पादे ताम्मुल कि दूँ जवाब तुझे,
जो मेरी बात का ऐ यार तुझको होवे यक़ीन।
जो चाहे यह कि कहे हिंद का ज़बाँदाँ शेर,
तो बेहतर उसके लिए रेख़ता का है आईन।

१—आबेहयात, पृ० १४२। सौदा का प्रसंग। कुछ लोग इस कथा में सदेह करते हैं पर इतना मानते अवश्य हैं कि किसी अन्य ने यह नसीहत दी। किसने किसे दी, यह कोई बड़ी बात नहीं। प्रकृत पद्य से उस समय की प्रवृत्ति का पूरा पूरा पता चल जाता है।

वगरना कहके यह क्यों शेर फ़ारसी नाहक़,
हमेशा फारसीदाँ का हो मौरदे नफ़रीन।
कोई ज़बान हो लाज़िम है खूबिए मज़मून,
ज़बाने फ़ुर्स प कुछ मुन्हसिर सखुन तो नहीं।
अगर फ़हीम है तो चश्मे दिल से करके नज़र,
ज़बाँ का मरतबा सादी से लेके तावा हज़ीं।
कहाँ तक उनकी ज़बाँ तू दुरुस्त बोलेगा,
ज़बान अपनी में तू बाँध मानिए रंगीन।
दयारे हिंद में दो चार ऐसे हो गुज़रे,
जिन्होंने याज़ रक्खा मज़हके से अपने तईं।
चुनांचे खुसरो वो फ़ैज़ी वो आरज़ू वो फ़कीर,
सखुन इन्हीं का मुग़ल के हैं क़ाबिले तहसीन।
सिवाय इनके कोई और भी हो पर शाइर,
सवादे हिंद में वह ही हैं बामज़ा नमकीन ॥"[1]

१—जनाब शेख चाँद, एम० ए० (उसमानिया) ने अपनी रचना 'सौदा' में पृ० ४०-४५ पर इसको उद्धृत किया है और कुछ इधर उधर की कहकर यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि इसका संबंध सौदा' से नहीं हो सकता। कारण यह बताया है कि सौदा स्वयं फारसी रचना के प्रतिकूल थे। चाहे जो हो, पर इतना तो प्रत्यक्ष है कि अब फारसी के दिन लद चले थे और उसमें कविता करना कुछ सयानों का काम नहीं समझा जाता था।

उक्त किताब अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू, औरंगाबाद से सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुई है।

अस्तु, हम देखते हैं कि समझदारों ने फारसी से अपना पिंड छुड़ाना शुरू कर दिया है और उसकी जगह रेखता या उर्दू की पैरवी करने में मग्न हो गए हैं। पर यह पैरवी कब और किस ओर से शुरू हुई इसकी भी थोड़ी सी चिंता यहाँ लगे हाथ हो जानी चाहिए।

रेखता के बारे मे इतना जान लीजिए कि

"रेखता कि शेर अस्त बतौर शेर फ़ारसी।"[1]

अर्थात् फारसी के छंदों में जो हिंदी-रचना होती रही उसी का नाम रेखता है। अस्तु; रेखता का प्रचार उस समय हो गया था जिस समय उर्दू का नाम तक नहीं था। 'गावता रेखता था' में रहीम ने रेखता गाने का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। 'रेखता' की ईजाद कब और किस शासन में हुई इससे यहाँ हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमारे लिए तो इतना ही प्रर्याप्त है कि हिंदी गवैयों ने रेखता का निर्माण किया और फारसी-प्रिय शासकों की देखरेख में उसे पनपाया। और उर्दू की ईजाद हो जाने पर उसे 'नज्म की ज़बान' और फिर 'उर्दू'[2] का पर्याय कहा। अतएव रेखता के प्रसंग को अधिक बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं।

उर्दू अथवा उर्दूएमुअल्ला के विषय में इधर जो छानबीन हुई है वह बहुत कुछ उर्दू की स्थिति को स्पष्ट कर देती है और सच पूछिए तो अब हिंदी और उर्दू का कोई विवाद ही नहीं रह जाता। हिंदी की लोकप्रियता का प्रमाण देना व्यर्थ है। वह

१—मीर तकी मीर ने 'नेकातुरशुअरा' में इसे बारबार दोहराया है।

२—यह प्रसंग पहले आ चुका है।

तो दिल्ली के मुगल बादशाहों की भी लाड़ली रही है। पर छँटी उर्दू की क्या कहें। वह तो आदि ही से कुछ कर गुजरने के लिये रोपी गई है। कभी शाहजहानाबाद के 'खुशबयान' लोगों ने मिलजुलकर सभी भाषाओं से कतरव्योंत कर एक नई भाषा बना ली और उसका नाम उर्दू रख दिया। खुदा खुश रखे सैयद इंशा की रूह को कि उसने हक (सत्य) का साथ दिया और 'दरियाए-लताफत' में साफ साफ लिख दिया कि

"खुशबयानान आँजा मुत्तफ़िक़ शुद. अज़ ज़बानहाय मुतहिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूद: व दर बाजे इबारात व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकार बुर्द: ज़बाने ताज़: सिवाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व बउर्दू साख़्तंद।"[1]

निदान सैयद इंशा ने यह तो स्पष्ट कह दिया कि उर्दू की ईजाद कुछ यों ही नहीं हुई बल्कि हकीकत तो यह है कि 'शाहजहानाबाद के शिष्टों ने आपस में मिलजुलकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को छाँट लिया और शब्दों तथा वाक्यों में कुछ हेरफेर करके दूसरी भाषाओं से अलग एक नई भाषा पैदा कर ली और उसका नाम उर्दू रख दिया', पर कहीं उन्होंने यह नहीं बताया कि वह कब और किसलिये पैदा की गई। रही उर्दू के अन्य आलिमों की बात। सो उनकी कुछ न पूछिए। उन्हें तो उर्दू का उलटा सीधा राग ही भाता है। उसकी उधेड़बुन से तो तब लगते जब उससे कुछ अपना लाभ दिखाई देता। उसके

१—अंजुमने तरक्कीए उर्दू (औरंगाबाद, अब, कुल हिंद देहली), सन् १९१६ ई० आरंभ, पृ० १-२।

मूल का पता बता स्वयं ही उसकी जड़ खोदने का काम क्यों करें? उसे कल्पवृक्ष बता उसकी छाया में स्वर्गसुख का लाभ दिखाएँ या उसे विषवेलि बता उससे निपट जनता को विरत करें? अतएव एक ओर तो उन लोगों ने उसे मिलीजुली 'आमफहम' 'मुश्तरका' जबान साबित किया और दूसरी ओर 'नबी की ज़बान' का फतवा दिया। हुआ यह कि मुगल बादशाहों की लाड़ली हिंदी उनकी बादशाहत के साथ जाती रही और नए परदेशियों के साथ नई जबान उसकी जगह चहकती फिरती दिखाई देने लगी। दो परदेशियों में सौदा आसानी से पट गया और आगे चलकर उनमें एक किताबी या पैगंबरी नाता भी जुट गया। फिर तो वह ऊधम मचा कि बेचारी हिंदी को कहीं का नहीं रहने दिया गया। मुगल उससे भयभीत हो उठे और उर्दू को अपना सब कुछ समझने लगे। ऐसा क्यों हुआ? इसका एकमात्र उत्तर है—इम्तयाज और आन के लिये, अभिमान और अभिज्ञान के लिये।

अस्तु; इधर उर्दू के लिये जो चारों ओर ललकार मची है उसका रहस्य कुछ और ही है। प्रसंगवश यहाँ इतना और जान लीजिए कि जनाब महमूद शेरानी ने स्पष्ट कह दिया है—

"मुझे यह भी कह देना चाहिए कि खानसाहब गालिबन् पहले शख्स हैं जो उर्दू का लफ्ज़ बमानि ज़बान इस्तेमाल में लाए हैं।"[1]

खान आरजू (सिराजुद्दीन अली खाँ) की गणना उर्दू के आदि कवियों में की जाती है। अब्दुल वासा हाँसवी की किताब 'गरायबुल्लुगात' की आलोचना करते समय जगह जगह पर

१—ओरियंटल कालेज मैगजीन, वही, नवंबर सन् १६३१ ई०, पृ० १३-१४।

उन्होंने साफ साफ कह दिया है कि 'ग्वालियारी' अथवा व्रजभाषा 'हिंद की भाषाओं में श्रेष्ठ है'। उनके 'अफसह अल सनये हिंदी' व 'अफसह जबानहाय हिंदी' को देखकर आज बहुतों को आश्चर्य होता है और जनाब महमूद शेरानी साहब को भी कहना ही पड़ता है कि

"सबसे ज्यादा जिस बात से ताज्जुब होता है यह है कि खान देहली की जबान और उर्दू को भी वक़अत की निगाह से नहीं देखते। उनके नजदीक हिंदोस्तानी जबानों में सब से ज्यादा शाइस्ता और मुहज्जब जबान ग्वालियारी है। चुनांचे इसी ग्वालियारी के अल्फाज अक्सर मौक़ों पर नक्ल किए हैं और उर्दू से बहुत कम सनद ली है।"[1]

खान आरज़ू की निधन तिथि सन् ११६९ हि० (१७५५ ई०) है। अतएव उक्त आलोचना इससे पहले की है। इस आलोचना के आधार पर यह तो निश्चित हो गया कि खान आरज़ू ने जिस भाषा को महत्त्व दिया है वह वही परंपरागत व्रजभाषा (हिंदी) है जिसकी चर्चा हम बराबर मुगल बादशाहों की हिंदी के प्रसंग में करते आ रहे हैं और उनकी रचनाओं का दर्शन भी करते जा रहे हैं। पर अब खान आरज़ू के मुँह से एक नई जबान उर्दू का नाम सुनाई दिया, जो अभी दबी हुई किसी कोने से झाँक रही है और यारों को अपनाने की चिंता में लीन है।

लीजिए शाहहातिम उसके शिकार हो गए। उन्होंने अपने देहलवी दीवान को फाड़ कर एक 'दीवानजादा' पैदा कर लिया

१—ओ० का० मैगजीन, वही नवंबर सन् १९३१ ई०, पृ० १०।

और किस तपाक से लिख दिया कि

'रोज़मर्रः देहली कि मिरज़ायाने हिंद व फसीहानेरिंद दर मुहावरः दारंद मंजूर दाश्त । सिवाय आँ ज़वाने हर दयार ता व हिंदवी कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ़ करदा । महज़ रोज़मर्रः कि आम फ़हम व खास पसंद बूद एख्तियार नमूद ।"[१]

ध्यान देने की बात है कि शाहहातिम का यह 'दीवानज़ादा' उसी सन् मे (११६९ हि०) पैदा हुआ जिसमे खान आरज़ू इस दुनिया से कहीं और के लिये कूच कर गए। पर शाह हातिम ने ब्रजभाषा को छोड़कर किसी दूसरी भाषा को महत्त्व क्यों दिया, इसका ठीक-ठीक पता हो जाय तो बहुत अच्छा हो।

शाह हातिम ने कहीं उर्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर उन्होंने अपने 'दीवानज़ादा' की ज़बान की जो व्याख्या की है वह उर्दू की ही व्याख्या है।

उर्दू शब्द की पकड़ के लिये हम कहाँ से कहाँ पहुँच गए और बेचारे मोहम्मद शाह रंगीले को भूल ही गए। अच्छा, अब फिर मोहम्मदशाह के दरबार में आइए और देखिए कि सैयद बंधुओं का अंत हो गया है। पर बादशाह की रुचि हिंदी में अच्छी तरह रम चली है और देश में देशियों को विशेष

१—(अर्थ) 'हिंद के मिर्जाओं और फसीह (शिष्ट) सूफियों की देहली की बोलचाल की भाषा को स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त चारों ओर की भाषा यहाँ तक कि हिंदवी को जिसको भाका कहते हैं त्याग दिया। केवल मुख्य लोगों के इन प्रिय बोलों को लिया है जो सबकी समझ में आ जाते हैं"। सौदा, अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू, औरंगाबाद, सन् १९३९ ई०, पृ० १९ पर अवतरित।

महत्त्व मिल रहा है। शासक की ममता परदेशियों से हटकर देशियों में जुट रही है। शासन में उनका अधिकार हो रहा है। अब मोहम्मदशाह के परदेशी वजीर मियाँ अमीन खाँ को कुछ दूर की सूझी और उन्होंने कुछ कर दिखाने की ठान ली।

यदि वजीर अमीन खाँ ईरानी-तूरानी हितकामना में मग्न थे तो फकीर साद अल्लाह खाँ 'गुलशन' फारसी की चिंता में लीन। भाग्यवश दक्खिन से औलिया 'वली' भी आ धमके और इधर उधर घूमघाम कर कहने लगे कि

"दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन,
जा कहो कोई मोहम्मद शाह से।"

किसीने उनके लिये मोहम्मदशाह से कुछ कहा या नहीं, यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते पर इतना जानते हैं कि जनाब साद अल्लाह 'गुलशन' ने उनसे कहा कि "यह सारे फारसी के विषय बेकार पड़े हैं इन्हें अपनाओ और अपने कलाम मे फारसी का रंग दिखाओ। डरते क्या हो? तुमसे लेखाजोखा कौन ले सकता है?"[1]

विचार करने की बात है कि दिल्ली में फारसी के मजमून बेकार क्यों पड़ गए और क्यों जनाब शाह गुलशन साहब को इसकी चिंता हुई कि उन्हें किसी प्रकार रेखता में लाया जाय? क्या 'वली' ईरान और तूरान में प्रसिद्धि पाने के लिये पहले से ही फारसी की ओर नहीं बढ़े थे और शेख मुल्ला नुसरती ने उन्हें यह पाठ नहीं पढ़ा दिया था? निवेदन है हाँ, अवश्य। मियाँ

१—मूल अवतरण अगले पृष्ठ पर है।

और किस तपाक से लिख दिया कि

'रोज़मर्रः देहली कि मिरज़ायाने हिंद व फसीहानेरिंद दर मुहावरः दारंद मंज़ूर दाश्तः। सिवाय आँ ज़बाने हर दयार ता व हिंदवी कि ऑ रा भाका गोयंद मौकूफ़ करदा। महज़ रोज़मर्रः कि आम फ़हम व ख़ास पसंद बूद एख़्तियार नमूद।"[1]

ध्यान देने की बात है कि शाहहातिम का यह 'दीवानज़ादा' उसी सन् मे (११६९ हि०) पैदा हुआ जिसमें खान आरज़ू इस दुनिया से कहीं और के लिये कूच कर गए। पर शाह हातिम ने ब्रजभाषा को छोड़कर किसी दूसरी भाषा को महत्त्व क्यों दिया, इसका ठीक-ठीक पता हो जाय तो बहुत अच्छा हो।

शाह हातिम ने कहीं उर्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर उन्होंने अपने 'दीवानज़ादा' की ज़बान की जो व्याख्या की है वह उर्दू की ही व्याख्या है।

उर्दू शब्द की पकड़ के लिये हम कहाँ से कहाँ पहुँच गए और बेचारे मोहम्मद शाह रंगीले को भूल ही गए। अच्छा, अब फिर मोहम्मदशाह के दरबार में आइए और देखिए कि सैयद बंधुओं का अंत हो गया है। पर बादशाह की रुचि हिंदी में अच्छी तरह रम चली है और देश मे देशियों को विशेष

१—(अर्थ) "हिंद के मिर्जाओं और फसीह (शिष्ट) सूफियों की देहली की बोलचाल की भाषा को स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त चारों ओर की भाषा यहाँ तक कि हिंदवी को जिसको भाका कहते हैं त्याग दिया। केवल मुख्य लोगों के इन प्रिय बोलों को लिया है जो सबकी समझ में आ जाते हैं"। सौदा, अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू, औरंगाबाद, सन् १९३९ ई०, पृ० १९ पर अवतरित।

थे। इसी अमीनखानी पाठ का परिणाम था कि उन्होंने अपने पुराने दीवान को फाड़ फेंका और चट एक नया 'दीवानज़ादा' पैदा कर लिया और निपट दर्प के साथ लिख दिया कि मैंने भाषा को छोड़कर मिरजाओं और फसीह रिंदों की जबान में रचना की। 'मिरज़ाओं' और 'रिंदों' की भाषा को अपनाकर शाह हातिम ने एक ओर मुगल शाहजादों को प्रसन्न किया तो दूसरी ओर सीधी सादी, भोली भाली मजहबी जनता को मोह लिया। फसीह रिंदों से हातिम का तात्पर्य मजहबी सूफियों से है और 'मिरज़ायाने हिंद' से मुगल शाहजादों से। अतएव शाह हातिम ने परंपरागत काव्यभाषा का व्यवहार रोकने का जो प्रयत्न किया वह शीघ्र ही सफल हो चला। लोग बड़ी उतावली से उनके ढग को अपनाने लगे।

नवाब अमीन खाँ का परदेशी गुट्ट मोहम्मदशाह की आड़ में विजयी हुआ था। इसलिये नई ईजादी जबान के फूलने फलने के लिये उचित जान पड़ा कि उसको बादशाही छाप मिले। 'मिर-ज़ायाने हिंद' के नाते उसे 'उर्दू' का नाम दिया गया और इस प्रकार उर्दू मुगल घराने की चीज ठहराई गई। फिर भी सहसा उसको प्रमाणपद न मिला। खान आरज़ू ने उसकी पैरवी की। फारसी के साथ ही साथ उर्दू में भी कुछ रचना की। पर पटरानी के पद पर व्रजभाषा को ही बहाल रहने दिया। कभी उसको 'मौकूफ़' नहीं किया बल्कि बराबर उसी को प्रमाण और हिंद की भाषाओं में श्रेष्ठ मानते रहे।

नवाब अमीन खाँ को उर्दू रचना से ही संतोष न हो सका। उन्होंने अन्य बाहरी अमीरों को मिलाकर देहली में एक अंजुमन

वली जरूर फारसीपरस्त हो चले थे और उनकी शाइरी में बराबर फारसी की बू दी जाती थी। लेकिन कमी यह रह जाती थी कि वह फिर भी हिंदी ही रह जाती थी। अतएव इसी हिंदियत के विनाश के लिए उक्त शाह साहब को उक्त आदेश (फारसी में) देना पड़ा—

"ईं हमः मज़ामीन फारसी कि बेकार उफ्तादह् अंद दर रेख़तः खुद बकार बबर। अज़ तू कि मुहासिबः ख़्वाहिद गिरफ्त।"[१]

इस प्रकार फारसी 'रविश' और फारसी 'मज़ामीन' की कोशिश शुरू हुई और जनाब वली उर्दू शाइरी के बाबा आदम बन गए। यह काम छिटफुट रूप में चालू नहीं हुआ। अमीन खाँ मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित थे, तो साद अल्लाह सूफी गद्दी पर विराजमान। वली भी अपनी करनी के साथ मैदान में उतर आए और तीनों का मिलाजुला कांड शुरू हुआ। अमीन खाँ ने उसके लिए एक 'मकतब' भी खोल दिया और दिल्ली में ईरानी-तूरानी चहचह शुरू हुई।

कहने की बात नहीं कि शाह हातिम इसी चहचह के कड़े

१—नैकातुश्शुअरा, पृ० ६४ से शेरुल हिंद, हिस्सा अव्वल, मारिफ प्रेस, आज़मगढ़, पृ० २६ पर अवतरित।

२—शेख़मुल्ला नुसरती ने (मृ० १०९५ हि०, १६८४ ई०) इस रविश पर विशेष ध्यान दिया और इस बात का पक्का गर्व किया कि 'दखिन का किया शेर ज्यों फ़ारसी' नुसरती का मज़हबी कट्टरपन उसकी जबान पर भी हावी हो गया और उसको भी फारसी की ठीक वैसी ही चिंता हुई थी जैसी कि साद अल्लाह गुलशन को।

थे। इसी अमीनखानी पाठ का परिणाम था कि उन्होंने अपने पुराने दीवान को फाड फेंका और चट एक नया 'दीवानज़ादा' पैदा कर लिया और निपट दर्प के साथ लिख दिया कि मैंने भाषा को छोड़कर मिरज़ाओं और फसीह रिंदों की जबान में रचना की। 'मिरज़ाओं' और 'रिंदो' की भाषा को अपनाकर शाह हातिम ने एक ओर मुगल शाहजादों को प्रसन्न किया तो दूसरी ओर सीधी सादी, भोली भाली मजहबी जनता को मोह लिया। फसीह रिंदों से हातिम का तात्पर्य मजहबी सूफियों से है और 'मिरजायाने हिंद' से मुगल शाहजादो से। अतएव शाह हातिम ने परंपरागत काव्यभाषा का व्यवहार रोकने का जो प्रयत्न किया वह शीघ्र ही सफल हो चला। लोग बडी उतावली से उनके ढग को अपनाने लगे।

नवाब अमीन खॉ का परदेशी गुट्ट मोहम्मदशाह की आड़ मे विजयी हुआ था। इसलिये नई ईजादी जबान के फूलने फलने के लिये उचित जान पडा कि उसको बादशाही छाप मिले। 'मिरज़ायाने हिंद' के नाते उसे 'उर्दू' का नाम दिया गया और इस प्रकार उर्दू मुगल घराने की चीज ठहराई गई। फिर भी सहसा उसको प्रमाणपद न मिला। खान आरजू ने उसकी पैरवी की। फारसी के साथ ही साथ उर्दू में भी कुछ रचना की। पर पटरानी के पद पर ब्रजभाषा को ही बहाल रहने दिया। कभी उसको 'मौक़ूफ़' नहीं किया बल्कि बराबर उसी को प्रमाण और हिंद की भाषाओं में श्रेष्ठ मानते रहे।

नवाब अमीन खॉ को उर्दू रचना से ही संतोष न हो सका। उन्होंने अन्य बाहरी अमीरों को मिलाकर देहली मे एक अंजुमन

भी खोल दी। फिर क्या था, उसमें काट-छाँट शुरू हुई। नवाब सैयद नसीर हुसैन ख़ाँ साहब 'ख़याल' ने इस अंजुमन के विषय मे लिखा है—

"इमदतुलमुल्क ने और उमरा के मशविरा से देहली में एक उर्दू अंजुमन कायम की। उसके जलसे होते। ज़बान के मसले छिड़ते। चीज़ों के उर्दू नाम रक्खे जाते। लफ्ज़ों और मुहावरों पर बहसें होतीं और बड़े रगड़ों झगड़ों और छानबीन के बाद अंजुमन के दफ्तर मे वह तहक़ीक़शुदा अल्फाज़ व मुहावरात कलम बंद होकर महफूज़ किए जाते। और वकीले साहबे सैरुल्मुताख़-रीन इनकी नक़लें हिंद के उमरा व रऊसा पास भेज दी जातीं और वह इसकी तकलीद को फ़ख़ जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ्ज़ों और मुहावरों को फैलाते।"[१]

कहना न होगा कि यह इसी अंजुमनी फैलाव का नतीजा है कि "वह अल्फाज़ जिनमें हिंदी के ख़ास हुरूफ़ शामिल थे और फारसी लफ्ज़ों में इस्तेमाल नहीं होते थे, जिनको फारसीदाँ अपनी ज़बान से बासानी अदा नहीं कर सकते थे अदब से ख़ारिज होने लगे। इसके अलावा वह अल्फाज़ भी जो अवाम की ज़बानों पर चढ़े हुए थे और ख़वास उनको बाज़ारी करार देते थे, मतरूक होने लगे। इस तरह कटछट कर देहली की टकसाली उर्दू ज़बान तैयार हुई और उसकी गोद में उर्दू अदब की परवरिश होने लगी। मोहम्मदशाह के अहद से इसकी मुस्तकिल तारीख़ शुरू होती है।"[२]

१—मुग़ल और उर्दू, वही, पृ० ६०।

२—जवाहिरे सुख़न, पहला हिस्सा, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् १९३३ ई०, पृ० ५।

मोहम्मदशाह के शासन मे उर्दू की चिंता क्यो और कैसे हुई, इसका कुछ आभास आपको मिल ही गया। अब यह भी देख लीजिए कि स्वयं मुगल बादशाहों ने उसे क्यो नहीं अपनाया और यदि उसको अपनाया तो कब और किस तरह। यह तो आप जानते ही हैं कि मोहम्मदशाह स्वयं भाषा के प्रेमी थे और हिंदी गीतो को आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके सामने तो किसी उर्दू की न चली। पर उनमें इतनी शक्ति ही शेष नहीं रही कि वह स्वयं डटकर कुछ कर सकते। निदान नादिरशाह आया और लूटपाट कर चला गया। उससे परदेशियो का जी न भरा। उन्हें फिर हिंदियों का आतंक सहना पडा।

मोहम्मदशाह का शीर्ण शरीर अधिक दिन तक चल न सका। उसके छूट जाने पर उनकी भावती का लडका अहमदशाह गद्दी पर बैठा। भला जिसका बाप ही रगीला हो और जिसकी माँ भी नर्तकी रही हो वह शासन का काम कहाँ तक सँभाल सकता है। फलत. उसको रागरंग की सूझी और अखाडे की धूम मची। महल महिलाओं का कुंज बना। वह पुरुष की छाया से भी बचकर मौज करने लगा। 'झरोखादर्शन' की झाँकी भी जाती रही। उधर उसकी यह क्रीडा चल रही थी इधर उसकी रसीली माँ नूरजहाँ बनने का स्वप्न देख रही थी। नतीजा यह हुआ कि अहमदशाह की आँखें फोडी गई और वह बदीगृह में डाल दिया गया।

उसके उक्त अनुपम अखाडे का एक दृश्य देखिए और उसके रंग को भी ठीक से पहचान लीजिए। किसी चहेती का कहना है—

"तुं ही मुराद करो मन भावन।
दिन दिन सुहाग बढ़े लड़ाले दुल्हा कीते अब बस कर,
पायो है लाड़ लड़ावन॥

बिनती सुन लीजो कान धर हमारी अहमद सा बादसाह
प्यारे मनभावन।
हैं ज्यों धरती पै मेघ बरसत तैसे बरसे बरस का चाहिए मोपर ज्यों
सावन हरो भरो डहडहो देखो करो लागी रहौं तिहारी ही दावन॥
कहत सुरभावन नाम धरो नीको तिहारे नाम ते निहाल होत
मो सी करोर बामन ॥" [१]

करोड़ स्त्रियों को निहाल करने वाले इस अहमदशाह का भी एक राग सुन लीजिए और फिर इसे सलीमगढ़ के किले में बंदी छोड़ आगे बढ़िए। इसका आलापना है

"घटानैं छोड़ी लटा बूँदन की अब कहा रोऊँ माई।
बिजरी चमके कोयल कुहुक कुहुक "डरावै ॥
रंगरस भरे 'अहमदसा' कों देख री मेरी ध्यान बटावै॥" [२]

अहमदशाह की जगह सुल्तान अजीजुद्दीन आलमगीर सानी बादशाह हुआ। आलमगीरी फकीरी कुछ उसमें भी थी। इसी फकीरी के धोखे में उसकी जान गई। उससे कहा गया कि कंधार का एक सिद्ध फकीर आया है। उसका दर्शन करना चाहिए। आलमगीर दर्शन के लिये पहुँचा तो निर्दयता के साथ भोंक भोंक कर मार डाला गया।

बहादुरशाह तक मुगल बादशाहों में कुछ जान थी। मुगल

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथमखंड, वही, पृ० १९९।
२—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथमखंड, वही, पृ० ६४२।

शाहजादे भी कुछ जीवट के व्यक्ति थे। इसलिये राज्य के लिये परस्पर भिड़ा करते थे। पर बहादुरशाह के बाद उनमें कुछ दम नहीं रहा। ईरानी तूरानी अमीरों में राज्य की स्पर्धा उठी। राजा बन जाना तो कुछ कठिन था पर वजीरी साफ नजर आती थी। उसीके लिये नाना प्रकार की पिशाच-लीला की जाती थी। देहली अब इसी पिशाच लीला की भूमि थी और तैमूरी शाहजादे ही अब बलि-वेदी पर चढ़ाए जाते थे।

आलमगीर की गद्दी जिस शाहजहाँ सानी को मिली वह कुछ दिनों के लिये बादशाह बना रहा और वजीर इमादुल्मुल्क की मनमानी होती रही। शीघ्र ही सदाशिव भाऊ ने उसे हटाकर उसकी जगह मिर्जा जवाँबख्त को बादशाह बनाया, पर कुछ ही दिनों में अहमदशाह अब्दालीने उसकी जगह आली गौहर को शाहआलम सानी के नाम से बादशाह बनाया जो दूर ही से कुछ दिनों तक दिल्ली का शासन करता रहा।

शाहआलम और कंपनी सरकार में जो लिखापढ़ी हुई उसकी चर्चा आगे आ रही है। यहाँ अभी इतना समझ लीजिए कि आलमगीर की भाषानीति वही परंपरागत थी। उसके शासन में भी हिंदी की प्रतिष्ठा थी। उसके दरबार में अभी हिंदी गवैयों का ही सम्मान है। मोहम्मदशाही अदारंग का गाना है—

'हिंद में आनंद भयो कोटि दुरजन गए बैठे तख्त धनी
आलमगीर सानी।
बाजे निसान फहरान सुनें गढ़पति फरर नई गई घाक
डर हुकुम मानी॥

चले चहुँ ओर फो ते मिलत को जोर जोर आगे चहुँ डोलादार सुघर रानी।
अदल अदलो उनसपत अदारंग कहाँ लग कहूँ जाके कादर करीम की मेहरबानी॥"[१]

आलमगीर सानी को अलग रखिए। हमारा सूफी अजीजुद्दीन भी कुछ कम नहीं है। देखिए न, मिलन के लिये बेचारा कितना तड़प रहा है और दूसरों को सुखी देखकर कैसा तरस रहा है—

"सौतन के मन में बसी विधना चढ़ आवे मन अब जानी,
तुम हमको बिसराय के बैठे किस विध मिलना होय।
'अजीजदीन' उमग जात है जोबना और बह्यो जात है पानी॥"[२]

प्रियतम स्वयं तो आता नहीं, संकेत में बुलाता है। पर इधर यह विपदा है कि सभी चौकीदारी में लगे हैं। फिर अभिसार कैसे हो! विवश हो कहते हैं—

"मोहि सैन बुलावे बाँका मारुड़ा मैं कैसे कर आउँ तोरे ढिग आगे।
चाँदनी रात प्यारे मोरी ननद जेठानी देवरनिया जागे॥
तोरी परछइ मइ लुक के 'अजीजदीन' को समीप कैसे आऊँ जो तुँ चली श्याम बसन पहर आगे॥"[३]

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथमखंड, पृ० ११५।
२—संगीत रागकल्पद्रुम, द्वितीयखंड, पृ० २३६।
३—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथमखंड, पृ० ६४१।

अब एक संतों की सीख सुनिए और इस अजीजुद्दीन आलमगीर सानी को सदा के लिये परख लीजिए। उसका एक पद है–

"पिया के संग परी नार चौसर क्यों नहीं खेले ?
इस अवसर को निपट सार जानो यह दिन है तीन चार॥
जो जीते तो पिय को जीते हारे तो रहे पिया लार।
तेरी तो सब तरह जीतहै जीत हेत न कर शोच विचार॥
सात पाँच की कंची पंची तो सोलह है हार।
दाव रखे सो रंग है वाको वोही जीते सौ वार॥
अब तो आदिया यंद चले है करहै धौं धन रार।
जब छक्के छूट जावेंगे तेरे तब क्या करोगे खेलार॥
आठ याम इनकी सुध राखो यह जो खुले दश द्वार।
तेरी भलाई सज्जीमे प्यार की काम की ले नरद मार॥
और पाँच तिथि हैं पंद्रह को निहार चंवदे भुवन
खुले तोकों जबते इनको सवार।
ग्रीष्म भरी ऋतु की प्यास बुझावो दर्शो लगावों वार॥
निधि की ऋद्धि सिद्धि हो तबहींके जो बुझैहै अहंकार।
बारह हैं बाट अठारह हैं पैंड़ा और चालें हैं हजार॥
तू चल गुरु की बताई चाल याही ते उतरेगो पार।
अब तू रंग कर रंग रहो जो न करत तकरार॥
जाकों जाको सत्रह सोलह हैं कौन करे पिय की प्यार।
अब कुछ पासो में पै पासा हाथ पकन के मुख्तार॥
चाहिए कुछ और आवे कुछ और याही ते लाचार।

ऊपर चाल कबहूँ तो सुझे हमको कहो मतवार ॥
युग युग,जिये 'अजीजदीन' ऊपर उठना है एक बार॥"[1]

किंतु, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, अब देहली में एक उर्दू अखाड़ा खड़ा हो गया था और परदेशी बंधु उसकी उन्नति में लीन हो गए थे। ऐसी स्थिति में भला यह कब संभव था कि बादशाह सलामत उससे अलग रहते और उसमें भी अपना जौहर न दिखाते। अस्तु हम देखते हैं कि जनाब अजीजुद्दीन बादशाह निजामुद्दीन औलिया के मजार पर यह चढ़ावा चढ़ा देते हैं—

"जो होवे खादिम निज़ामुद्दीन का दिल से ग़रीब,
उसके तईं होता है ताज खुसरवी जग में नसीब।
खादमी की थी अज़ीज़ुद्दीन ने वा सिद्क़ वो यक़ीन,
ताजशाहे हिंद का मुझको दिया है अनक़रीब।
मर्ज़े दिल उफ़गार का मेरे वह सेहत बख्श है,
बेग़रज़ा वो बेदुआ वो बेदवा वो बे तबीब।
बस परेशां हाल है अब खल्क़ में महबूबे हक़,
फ़ज़्ल कर तक़सीरवार पर तुम हो हक़ के हबीब॥"[2]

मिर्जा अजीजुद्दीन को निजामुद्दीन औलिया के प्रसाद से बादशाहत तो मिल गई, पर अहमदशाह अब्दाली के मुल्क के दरवेश से उन्हें कुछ नसीब न हो सका। उसके बहाने उनकी हत्या की गई और वे नग्नदशा में बाहर पशुपक्षियों के महोत्सव

१—संगीत राग कल्पद्रुम, द्वितीय खंड, वही, पृ० ६०।
२—मुग़ल और उर्दू, वही, पृ० ९६।

के लिये फेंक दिए गए। अहमदशाह अब्दाली उधर दिल्ली को दबाता और लूटता रहा और इधर बावरी वीर किसी न किसी के शिकार होते रहे। सबसे बढ़कर जो अधम काम इस आलमगीरी शासन में हुआ वह लोकभाषा और लोकवाणी का बहिष्कार था। औलिया आलमगीर की नीति ने हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य को जन्म दिया, तो फकीर आलमगीर सानी के समय ने हिंदी-उर्दू-प्रश्न को। औरंगजेब ने मुसलिम मत की पैरवी की तो अजीजुद्दीन ने उर्दू-रचना की कोशिश। आलमगीर ने ईरानी-तूरानी अमीरों को अपनाकर उनसे अपना काम निकाला तो आलमगीर सानी अपनी नादानी से उन ईरानीतूरानीजादों के काम आने लगे। परिणाम यह हुआ कि मुगलों का सितारा डूब गया और वे भी अंगरेजों के दास बने।

मरहठों की बढ़ती हुई बाढ़ से बचने के लिये परदेशी पट्ठों ने फिर अहमदशाह को बुलाया। मौका पाते ही वह भारत पर चढ़ दौड़ा और वहाँ का बादशाह बनना ही चाहता था कि उसकी सेना के छक्के छूट गए। साहस टूट जाने से वह अपना सा मुँह लिए अपने घर लौट गया और यहाँ की शाही आली गौहर को नसीब हुई। आली गौहर शाहआलम सानी के नाम से बादशाह बने, पर दिल्ली के मरघट से बहुत दिन तक कुछ दूर ही रहे। अंत में सन् १७७२ ई० में देहली आए और कुछ दिनों के बाद आँखों की भेंट चढ़ा कर सचमुच शतरंज के शाह बन गए। मात पर मात खाते और नाम की बादशाहत करते। यदि मरहठों ने कुछ सँभाला तो अँगरेजों ने उन्हें दबोच लिया। अब दिल्ली के उर्दू अखाड़े में मातमी पड़ी और लोग रोटी-पानी के लिये बाहर

निकल पडे। पहले उर्दू के नमूने बाहर भेजे जाते थे और अब खुद 'उर्दू' ही जगह जगह बसने लगा। पर उर्दू की प्रतिष्ठा केवल लखनऊ को नसीब हुई।[1]

लखनऊ के नवाब वजीर ने उर्दू के लिये जो कुछ किया वह प्रस्तुत प्रसंग से बाहर की बात है। नवाब गवर्नर जनरल बहादुर की उर्दूपरस्ती भी हमारे विषय के भीतर अभी नहीं आ सकती। कारण, हमें केवल मुगल बादशाहों की हिंदी पर विचार करना है।

अजीजुद्दीन आलमगीर सानी के समय में शाह हातिम ने जो उर्दू को महत्त्व दिया उसका कारण प्रत्यक्ष है। हिंदी ने परदेशियों की फारसी को परास्त कर दिया। यहाँ तक कि उनके घरों में भी हिंदी का बोलबाला हो गया। राजनीति में दबते ही उन्हें अपनी सत्ता का चेत हुआ और उन्होंने आँखें खोलकर देखा तो उन्हें साफ सूझ पडा कि उनकी जबान भी हिंदी हो चली है। जब तक शाही बनी थी तबतक मौज से फारसी में रचना करते और हिंदी में ब्रजभाषा को प्रमाण मानते। पर जब शाही लुट गई और फारसी से लोग मुँह मोडने लगे तब भारी दिन दिखाई देने लगे। अब किसी तरह अपनी जबान की चिंता हुई। 'निश्चित हुआ कि शाहजादों

१—चुनांचे सैयद इंशा साफ साफ फरमाते हैं कि "अगर तमाम शहर रा फरा गीरन्द आँ शहर रा उर्दू नामन्द। लेकिन जमा शुदन ई हजरात दर हेच शहरे सिवाय लखनऊ निज्द फकीर साबित नीस्त।"
(दरियाएलताफ्त, अंजुमनेतरक्कीए उर्दू (हिंद) दुरदानए सोम, नाज़िर प्रेस, लखनऊ, पृ० ७३।

और शाहजादियों की 'ज़बान' को प्रमाण मानो और मजहबी भावों को कायम रखने और उभारने के लिये मजहबी सूफियों की जबान को भी फसीह मान लो। बस, हातिम ने इसकी घोषणा कर दी और मुगल बादशाहों की भाषा हिंदी होने के कारण छोड़ दी गई।[1]

अंधे बादशाह शाह आलम पड़े पड़े अब इस तरह की उर्दू शाइरी में दिन काटने लगे और सैयद इंशा के चोचलों को गनीमत की आँख से देखना शुरू किया। आप कितनी बेबसी से कहते हैं—

"वाह किस्मत एक तो यह कुंजे तनहाई मिला,
दूसरे जो यार था सो वह भी हरजाई मिला।
वादे मजनूँ क्यों न हूँ मैं कारफ़रमाये जनूं,
इश्क़ की सरकार से मलबूसे रुसवाई मिला॥
खूब सा सीधा बनेगा, देख ऐ सरवे चमन,
उसकी रानाई से मत तू अपनी ज़ेबाई मिला।
सरकशी ऐ चर्ख मत कर, देख पेशे 'आफ़ताब',
खाक में सारी यह देगा तेरी चौड़ाई मिला।"

अंधे 'आफताब' की दिलजोई के लिये बहुत से 'जर्रः' और 'गुलाम' हिंदू 'राजा' निकल आए और फारसी की तरह उर्दू को भी शाही चीज समझकर अपनाने लगे। पर बादशाह ने अपनी प्यारी 'भाषा' को भुला नहीं दिया बल्कि उसमें भी हृदय की आह निकालते रहे। मुंशी करीमुद्दीन कहते हैं—

"बादशाह की तसनीफ़ से कवित्त और दोहरे भी बहुत हैं।"[2]

१—मुगल और उर्दू, वही, पृ० १०६।

२—मुगल और उर्दू, वही, पृ० १०१ पर अवतरित।

बादशाह शाह आलम सानी के कवित्त और दोहरे तो अभी देखने में नहीं आए, पर उनके कुछ पद संगीत राग कल्पद्रुम में अवश्य मिलते हैं। 'ख्याल' के बारे में हम कह चुके हैं कि वह मोहम्मदशाही रंग की चीज है। अतः यह मान लेने में किसी भी मनीषी को कोई अड़चन न होगी कि 'ख्याल' वाले पद इसी दूसरे शाहआलम के हैं क्योंकि शाहआलम बहादुरशाह मोहम्मदशाह से पहले हो गए हैं।

अच्छा तो शाह आलम सानी का भी एक गान सुन लीजिए और उनके 'ख्याल' की दाद दीजिए। उनका पद है—

> "अब तुम जागो क्यों न मोरे मीत ?
>
> पियरवा हमारी प्रीत तुम सन लागी।
>
> नींद के माते 'साहआलम' सुरजनुमा
>
> भवनुमा सगरो रैन रंग रस पागी।।"[1]

अपने ही घर में अपनी रक्षा न कर सकनेवाले शाह-आलम की शाही जैसी कुछ रही होगी सो आपको विदित ही है। गुलाम कादिर रुहेला ने मुगल वंश की जो दुर्गति की और शाहजादों को जो नंगा नाच नचाया वह इतिहास में प्रसिद्ध है। उसका मरसिया पढ़ने से अब क्या लाभ ? अब तो शाहआलम को एक कागजी बादशाह समझिए और 'क़िला मुअल्ला' को एक 'ज़ियारतगाह'। अब वह शाही शान कहाँ ? कुछ को अहमदशाह अब्दाली ने लूटा तो कुछ को मरहठों ने बरबाद किया और जो कुछ बच रहा उस पर अँगरेजों ने हाथ साफ किया। उधर शाह आलम के सूबेदार भी स्वतंत्र क्या बादशाह हो रहे और संतोष के लिये शाहआलम को बादशाह कहते रहे।

१–संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० ८०।

शाह आलम के निधन के उपरांत उनके आत्मज अकबर खाँ बादशाह हुए और धीरे धीरे अँगरेजों की चाल के शिकार होते रहे। उन्होंने अंत में एक दिन यह भी सुन लिया कि अवध के 'नवाब वज़ीर' अब उनके 'वज़ीर' नहीं रहे बल्कि एक आजाद बादशाह बन गए। ऐसी हालत में कविता का सहारा ढूँढ़ना सहज ही था। किंतु कवियों को देने के लिये अब रह ही क्या गया था कि उनका कुछ सच्चा सत्कार करते। पड़े पड़े कुछ शाइरी का शौक निभाते और रहे सहे शाइरों की दाद देते। 'उर्दू' को पनपाते और दो चार आँसुओं से सींच लेते थे। इतिहास की दृष्टि में वे 'छतहू अछत समान' थे। हिंदी के विषय में भी उनकी यही दशा थी। अतएव उनको यहीं छोड़ थोड़ा अंतिम मुगल सम्राट् की हिंदी-निष्ठा पर विचार कर लेना चाहिए और यह प्रत्यक्ष दिखा देना चाहिए कि मुगल बादशाह अंतिम क्षण तक हिंदी की सेवा करते रहे और उन्होंने उसको कभी 'मतरूक' या 'मुव्तज़ल' नहीं समझा। समझते भी कैसे? उन्हें भी तो हिंद ही का सहारा था और इसी में तो उनका जन्म मरण हुआ था!

बहादुरशाह के बापदादे छोड़ ही क्या गए थे कि उसकी रक्षा होती। बादशाहत! वह तो कभी की विदा हो चुकी थी। वह उनके बूते की बात नहीं। और शाइरी! दुनिया जानती है कि बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने उसे जमा दिया। उनका दावा है—

"ऐ 'ज़फ़र' एक है तू फ़ने सुख़न में उस्ताद,
क्यों न क़ायल हों तेरे 'नासिख़' व 'आतिश' दोनों।"[1]

१-बहादुरशाह 'ज़फ़र', अमीर अहमद साहब, अलवी नामी प्रेस, कानपुर, सन् १९३१ ई०, पृ० १४८।

'नासिख' और 'आतिश' को कायल करने वाले 'ज़फ़र' को उर्दू के लिये छोड़ दीजिए और उनके इस हिंदी रंग को देखिए–

"जिन गलिन में पहले देखीं लोगन की रँगरलियाँ थीं,
फिर देखा तो उन लोगन बिन सूनी पड़ी व गलियाँ थीं।
ऐसी अखियाँ मीचे पड़े हैं करवट भी नहीं ले सकते,
जिनकी चालें अलबेली और चलने में छलबलियाँ थीं।
खाक का उनका बिस्तर है और सर के नीचे पत्थर है,
हाय! वह शकलें प्यारी प्यारी किस किस चाव से पलिया थीं॥"[1]

अच्छा, तो अपने प्यारे बहादुरशाह की एक प्यारी पहेली भी सुन लीजिए और देखिए तो सही कितना सरस हृदय है! कितना हिंदीपन है!

"सुन री सहेली मोरी पहेली,
बाबल घर में रही अलबेली,
मातपिता ने लाड़ से पाला।
समझा मुझे सब घर का उजाला,
एक बहन थी एक बहनेली ॥ १ ॥
यों ही बहुत दिन गुड़िया में खेली,
कभी अकेली कभी दुकेली।
जिससे कहा चल तमाशा दिखा ला,
उसने उठा कर गोद में ले ली ॥ २ ॥

1—बहादुरशाह 'ज़फ़र', वही, पृ० १४८।

कुछ कुछ मोहि समझ जो आई,
एक जा ठहरी मोरी सगाई।
आवन लागे बाम्हन नाई,
कोई ले रुपैया कोई ले धेली ॥ ३ ॥
व्याह का मोरे समाँ जब आया,
तेल चढ़ाया, मँढ़ा छवाया।
सालू सूहा सभी पिन्हाया,
मेहँदी से रँग दिए हाथ हथेली ॥ ४ ॥
सासुरे के लोग आए जो मेरे,
ढोल दमामे बजे घनेरे।
सुभ घड़ी सुभ दिन हुए जो फेरे,
सैयाँ ने मोहि साथ में ले ली ॥ ५ ॥
आए बराती सब रसरँग के,
लोग कुटुम के सब हँस हँस के।
जावत थे सब घर से निकले,
और के घर में जाय धकेली ॥ ६ ॥
ले के चले पी साथ जब अपने,
रोवन लागे फिर सब अपने।
कहा कि तू नहीं बस की अपने,
ला बची, तेरा दाता है बेली ॥ ७ ॥
सखी, पिया के साथ गई मैं,
ऐसी गई फिर वहीं रही मैं।

किससे कहूँ दुख हाय! दई मैं,
सैयाँ ने मोरी बाँह गहेली ॥ ८ ॥
सास जो चाहे सोई सुनावे,
ननद भी बैठी बात बनावे।
क्या करूँ कुछ बन नहीं आवे,
जैसी पड़ी मैं वैसी ही झेली ॥ ९ ॥
जिया बियाकुल रोवत अखियाँ,
कहाँ गईं सब सँग की सखियाँ।
शौक रंग गुड़ियाँ ताक पै रखियाँ,
ना वो घर है ना वो हवेली" ॥[1]

बहादुर शाह की नवीन रचनाओं की एक झलक मिल गई। अब जरा उस रंग को भी देख लीजिए जो उनको बपौती में मिला है। हर्ष की बात है कि बहादुर शाह ने इस आन को भी स्थिर रखा और बादशाही के हाथ से सँवारकर इसे भी उजागर कर दिया। 'घुँघरू की झनक' उनके कान में पड़ती तो वे कुछ संगीत का जौहर दिखा जाते और इस प्रकार की रचना कर बैठते—

"प्यारी, तेरो प्यारो आयो
प्यारी प्यारी बातें कर प्यारे को मनाइए।
अनेक भाँतन कर प्यारे को रिझाइए।
आली, ऐसो प्यारो कहाँ घर बैठे पाइए।

१—हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पद्मसिंह शर्मा, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् १९३१ ई०, पृ० १२३ से १२५ तक।

छाइए, समुझाइए, कौन भाँतन
कर सुख दे बोलाइए।
'साह बहादुर' तेरे रस बस भए
अनरस कर कर सौतन हँसाइए॥"[1]

बहादुरशाह का शाही जीवन जैसे तैसे किला मुअल्ला के शाही घेरे में बीत ही रहा था कि यारों को फिर दूर की सूझी और ईरानी-तूरानी बच्चों को ईरान के शाह की शरण अच्छी दिखाई दी। उनको चढ़ दौड़ने की हरियाली दिखाई गई और देहली में कानाफूसी शुरू हुई। एक संपादक महोदय ने तो अपने पत्र में यहाँ तक लिख मारा—

"हिंदोस्तानी तो सिर्फ उसी वक्त खुश होंगे कि अगर शाह ईरान अब्बास शाह सफ़ी की तरह हमारे खास बादशाह को सल्तनत देदे और ताज्जुब भी नहीं जो वह ऐसा करें। क्योंकि खुद तैमूर ने ईरानियों को सल्तनत बख्शी थी। और नजर गायर डालने से मालूम होता है कि इसी एहसान के बदले अब्बास शाह सफी ने हमारे हुमायूँ को मदद दी थी।"[2]

'सादिकुल अखबार' के उक्त संपादक को बहादुरशाह इतने प्रिय क्यों हैं इसके कहने की आवश्यकता नहीं। हम यहाँ इस उलझन में भी फँसना नहीं चाहते कि स्वयं बहादुरशाह और 'शाहे ईरान' में क्या कुछ पक रही थी। हमें तो इतना संकेत कर देना है कि हमारे परदेशी मुसलिम भाइयों को अब भी

१—संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खंड, वही, पृ० ६६।

२—उर्दू, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू (औरंगाबाद) की तिमाही पत्रिका, अप्रैल सन् १९३५ ई०, पृ० २१२ पर अवतरित।

शासन की ही सूझ रही है और इसी की रक्षा अथवा प्राप्ति के लिये ईरान का दरवाजा खटखटा रहे हैं।

हाँ, तो उनकी इस तड़प का प्रधान कारण है कि अब अवध के रसिया बादशाह वाजिदअली शाह 'अख्तर' भी लखनऊ के शासक नहीं रहे। उन्हें भी वहाँ से कूच करने का परवाना मिल गया। जब सीधी सादी गाय सी कंपनी सरकार ने धीरे धीरे भूखी बाघिन सा उग्र रूप धारण कर लिया तब ईरानी-तूरानी बच्चों को ईरान की न सूझती तो क्या मरदुम यूरप से उनका पेट भरता? क्या अँगरेज उनका अतिथि-सत्कार करते? ऐसों की चालों का उचित उपाय कर उनको सीधा करना ही तो कंपनी के सरदारों का काम था। अंत में हुआ वही जिसकी तैयारी इतने दिनों से परदेशी बंधु लुकछिपकर कर रहे थे। उनकी कृपा से दिल्ली में क्रांति मची और बुझने के लिये मुगल शासन का दीपक अंतिम बार भभक उठा। अँगरेजों ने अपनी नीति, पर हिंदी पराक्रम के सहारे सबका दिमाग दुरुस्त किया और कट्टर आलमगीर का पसीना खून होकर टपका। बहादुरशाह बंदी के रूप में रंगून भेज दिए गए और वहीं पड़े पड़े यह राग आलापने लगे—

"न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का क़रार हूँ,
जो किसी के काम न आ सकूँ, मैं वह एक मुश्त ग़ुबार हूँ।
मेरा रंग रूप बिगड़ गया, मेरा हुस्न मुझसे बिछुड़ गया,
जो चमन ख़ज़ाँ से उजड़ गया, मैं उसीकी फ़स्ले बहार हूँ।
पै फ़ातहा कोई आए क्यों? कोई चार फूल चढ़ाए क्यों?
कोई आके शमा जलाए क्यों? मैं वह बेकसी का मज़ार हूँ॥"[1]

१—बहादुर शाह 'ज़फ़र', वही, पृ० १२३।

कहने को तो बहादुरशाह ने अपने आप ही को 'बेकसी का मज़ार' कहा है, लेकिन सच पूछिए तो इसी मज़ार में सारी शेखी और सारी शान समेटकर दफना दी गई। मुगल बादशाहों के शासन में जो परदेशी चैन की वंशी बजाते थे और तनिक सी बाधा आ जाने पर कुछ का कुछ कर दिखाते थे उन पर अब विपत्ति का बादल छा गया। बचने का कोई उपाय न था। इसलिये सैयद अहमद खाँ बहादुर ने 'बग़ावत' का सारा दोष हिंदुओं के सिर मढ़ा और 'मज़हब' के आधार पर मसीहियों को अपनी ओर कर लिया। उनकी शिक्षा और परम प्रचार का प्रभाव यह पड़ा कि अब हमारे मुगल बच्चे भी हिंदी के विरोधी हो गए और बाबर से लेकर बहादुरशाह तक की कमाई हुई भाषा को कसाई की छुरी समझने लगे। मुगल बादशाहों ने जिन हिंदी शब्दों को प्यार से अपनाया था और तुर्की-फारसी भाषा का भी जिन्हें अंग बना दिया था वे भी अब चुन चुनकर दाल की कंकड़ी की तरह अलग कर दिए गए और देश में एक नया ऊधम खड़ा किया गया।

परदेशी पार्टी के सरगना सर सैयद अहमद ख़ाँ बहादुर ने अँगरेजों के सहारे जिस विषबीज की खेती की उसीके सींचने में आज भी, देशी होते हुए भी परदेशी, जनाब मोहम्मद अली

१—सर सैयद ने 'असबाब बग़ावत' नाम की अपनी प्रसिद्ध रचना में सन् ५७ की 'बग़ावत' का सारा दोष हिंदुओं के सिर मढ़ा है। उनका यह उपदेश था कि 'किताबी' होने के नाते अँगरेज मुसलमानों के परम हित् हैं। उनकी यह शिक्षा थी कि 'मुसलमान' इस देश के रहने वाले नहीं हैं। इसके लिए देखिए लेखक-रचित 'कचहरी की भाषा और लिपि', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

जिनाह (जिन्ना) व्यग्र हैं। उनकी व्यग्रता को भलीभाँति समझने के लिये गत दो सौ वर्षों का अध्ययन अनिवार्य है। भाषा को लेकर आजकल जो धाँधली मची है उसका रहस्य बहुत कुछ आपके सामने है। जिन मुगल बादशाहों की भाषा उर्दू के नाम से ख्यात की गई है उनकी हिंदी रचनाओं का बहुत कुछ पता आप को हो गया है। आप उन्हें ध्यान से पढ़ें और देखें। फिर समझबूझकर कहें तो सही कि आप क्या चाहते हैं—हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी अथवा मुगल बादशाहों की 'भाषा' ?

मुगल बादशाहों की हिंदी का जो धुँधला सा रूप आपके सामने आया है, संभव है, वह आपको न रुचे। पर याद रहे कि यह उन्हीं समर्थ मुगल बादशाहों की हिंदी है जिनके नाम पर आज उर्दू पनपाई जा रही है और मिलीजुली क्या, राष्ट्र की असली चीज समझाई जाती है। पर जैसा बताया जा चुका है उर्दू का वस्तुत: राष्ट्र से कोई भी सीधा संबंध नहीं है। उर्दू तो 'दरबार' के ईरानी-तूरानी विधाताओं की 'इम्तयाजी' चीज है फिर भला उसे हिंदुस्तानी किस मुँह से अपना सकते हैं ? अब खोज और रोशनी के इस जमाने में उर्दू को 'मिलीजुली' और 'मुश्तरका जबान' कहने का फैशन अधिक दिन तक चल नहीं सकता और संभावितों के लिये तो उसका नाम भी अपमान और वैमनस्य का द्योतक बन गया है। बहुत से उर्दूपरस्तों को 'उर्दू' शब्द तो अब खल रहा है, पर उसका परदेशीपन बहुत ही प्रिय है। यही कारण है कि हमारे राष्ट्रबंधु परदेशी नाम 'हिंदुस्तानी' तो पसद करते हैं, पर काम उससे कुछ और ही लेना चाहते हैं। हमें इस प्रकार के व्यामोह से बचकर मुगल बादशाहों की हिंदी का अध्ययन करना

चाहिए और उनकी भाषानीति पर डटकर विचार करना चाहिए।

कहने को तो मुगलों की हिंदी के विषय में सब कुछ कहा, पर कहने में वही बात छूट गई जो आज राष्ट्रभक्तों के लिये पिनाक हो रही है और जिसके तोड़ने के लिये देश में नाना प्रकार के प्रयास (अनुष्ठान) हो रहे हैं। आशा है अब वह बात आपकी समझ में आ गई होगी। आप भी सांकेतिक अथवा पारिभाषिक शब्दों की चिंता में मग्न होंगे और यदि उर्दू के भक्त अथवा उनके भक्तों की भक्ति में निमग्न होंगे तो आपको यह जान लेने में कोई अड़चन भी न होगी कि क्यों हैदराबादी सरकार उर्दू में अरबी के बनावटी और ईजादी शब्दों की भरमार कर रही है। बात यह है कि हैदराबादी सरकार भी उसी परदेशी पार्टी की एक उपज है जिसने हिंदी को उजाड़ने के लिये कतर-ब्योंत कर एक 'नई ज़बान' पैदा कर ली थी और उसका नाम उर्दू रख दिया था। लखनऊ के नवाब भी उसी पार्टी के एक स्तंभ थे। तात्पर्य यह कि भाषा की प्रवृत्ति और प्रकृति के प्रतिकूल शब्दों को उसका अंग बताना साहस नहीं, पाषंड नहीं, हिंदी को मूर्ख बनाना और किसी तरह अपना उल्लू सीधा करना है। अतएव आइए इन द्रोहियों को यहीं छोड़ कुछ समर्थ मुगल बादशाहों के निजी शब्दों पर विचार करें और देखें कि उनका पक्ष क्या है।

मोहम्मदशाह के समय में फजली ने जो कथा लिखी थी उसका नाम उसने और कुछ नहीं शुद्ध 'करबलकथा' रखा था। 'दहमजलिस' आज लोगों को प्रिय भले ही हो पर 'करबल-कथा' तो आज लोगों को काटे खाती है। कारण ? क्या आप नहीं

जानते कि वह शुद्ध संस्कृत है ? फजली का मतिभ्रम तो देखिए। मजहबी किताब का नाम 'मुई' संस्कृत मे रख दिया। शायद आप कहें कि शीया होने के कारण उसने ऐसा कर दिया, क्योंकि उस समय भी शीया सुन्नियों से खार खाए बैठे थे; तो हमारा नम्र निवेदन है कि कट्टर हनीफी 'गाज़ी' औरंगजेब ही को ले लीजिए और उसकी भाषा-नीति की पक्की पड़ताल कीजिए फिर कहिए कि हैदराबादी टकसाल किस मजहबी पेशवा की कायम की हुई है।

औरंगजेब के विषय मे हम पहले ही कह चुके हैं कि वह राज्य की सुव्यवस्था और सुसंघटन के लिये लोक-भाषा को महत्त्व देता था और उसकी शिक्षा का प्रबंध भी करना चाहता था। वह यह भी अच्छी तरह जानता था कि मजहब का प्रचार 'नबी की जबान' में नहीं हो सकता। उसके लिये तो लोक की वाणी ही काम की होगी। फिर वह अरबी फारसी के पीछे जान क्यों देता ? कुरान मजीद का प्रमाण[1] भी तो उसके पक्ष में था, निदान हम देखते हैं कि वह शाहजादों को हिंदी की शिक्षा देता और हिंदी टकसाल के शब्दों को चालू करता है। उसके प्रिय पुत्र शाह आजम ने उसके लिये कुछ आम भेजे। आम मीठे और सरस थे। पर उनके नाम का पता न था। आलमगीर औरंगजेब ने चट उनका नाम 'सुधारस' और 'रसना विलास' रख दिया। उसने भी उसी मरी संस्कृत से काम लिया और प्रत्यक्ष दिखा दिया कि

१--सूरत इब्राहीम की आयत ४। विवरण के लिये देखिए 'उर्दू का रहस्य', नागरीप्रचारिणी सभा, सं० १९९७ वि०, पृ० १२८ से १४१ तक। 'नबी की जबान' नाम का लेख।

यह मर कर भी किस प्रकार जीवन-दान के लिये ही अमर है।

आलमगीर औरंगजेब ने भाषा के क्षेत्र मे सबसे बड़ी और बढ़कर यह बात पैदा की कि हिंदी आकारांत शब्दों को फारसी मे 'हकारांत' न लिखा जाय। आज हिंदुस्तानी के हामियों मे भी इतना साहस नहीं है कि हिंदुस्तानी की (उर्दू) पोथी मे पटना को पटना और दशहरा को दशहरा लिख सकें। बोल-चाल का चिर परिचित पटना हिंदुस्तानी मे जाकर 'पटनः' और हमारा परंपरागत प्रिय पर्व दशहरा बोलचाल की 'आमफ़हम' जबान मे 'दशहरह' हो जाता है। यही नहीं, अँगरेजी का 'आना' भी हमारी मुल्की जबान हिंदुस्तानी मे 'आनः' (फारसी) हो जाता है। पर कट्टर गाजी औरंगजेब की फारसी मे भी इनको 'हकार' से लिखने की आज्ञा नहीं है। उसका फतवा 'आकार' के शुद्ध रूप के पक्ष में है। एक बात और। क्या कभी आपने इस बात पर ध्यान दिया है कि अकबर का 'इलाहावास' आपका 'इलाहाबाद' कैसे हो गया और क्योंकर 'इलाह' कोई मुकाम आबाद करने लगा? बात यह है कि अकबर के संस्कृत 'आवास' को हड़पने के लिये मजहब की पुकार को अलग रख उसकी जगह आबाद को चालू कर दिया गया और अकबर की सधी निष्ठा या सूझ पर पानी फेर कर उर्दू को सचमुच विलायती सिद्ध कर दिया गया। आखिर यह सब खुराफात क्यों हुई और क्यों लोग हिंदी से अपना पिंड छुड़ा, मुगल बादशाहों की प्यारी भाषा से दूर भागने क्या उसे जहन्नुम मे भेजने के लिये उतारू हो गए और उर्दू को 'नबी की ज़बान' कहकर अपढ़ और भोलीभाली

१—ए ग्रामर आव दी ब्रजभाषा, वही, पृ० ३ (इंट्रोडक्शन, फुटनोट)

हिंदी मुसलिम जनता को जेहाद के लिये तैयार कर लिया। उत्तर एक 'अरबसरा' के सैयद अहमद देहलवी के मुँह से सुन लीजिए और मुगलबादशाहों की प्यारी हिंदी[1] के विरोध की गाथा भी जान लीजिए। उनकी नपी तुली घोषणा है कि

"यह लोग तुर्कीउन्नस्ल थे या फारसीउन्नस्ल या अरबीउन्नस्ल। यह भला हिंदी की मुतावकत किस तरह कर सकते थे।"[2]

उर्दू के परदेशी पहलवानों की काली करतूतों पर विचार करने का यह अवसर नहीं। हाँ, प्रसंगवश इतना और जान लीजिए कि

"*अय्यामे गदर के बाद जब मैंने बतूबी होश सँभाला तो* देखा कि मौजूदा जबान ने और ही रंग निकाला है। मैं जबान की तरक्की का मुखालिफ नहीं हूँ बल्कि इसका दिल से साथी और मुवाफिक हूँ। क्योंकि जबान की तरक्की ऐन हमारी तरक्की है। मेरी तमाम उर्दू तसानीफ देख डालो। बहुत से ऐसे हिंदी अछूते अल्फाज मिलेंगे जिन्हें फसीहाने जबान ने अभी तक तिरछी नजर से देखकर अपनी जबान की मजलिस में बैठने की पूरी पूरी जगह नहीं दी थी। हालाँकि वह अजहद फसीह, बलीग,

---

१—मुगल बादशाहों की यह परिपाटी सी रही हैं कि वे बराबर हिंदी नाम रखते हैं। आइने अकबरी में भी ऐसे अनेक नाम पाए जाते हैं। यहाँ उनपर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। उनके सांकेतिक शब्दों पर फिर कभी विचार किया जायगा और यह प्रत्यक्ष दिखा दिया जायगा कि उनकी फारसी में कितनी हिंदी रहती है।

२—फरहंगे आसफिया, वही, जिल्द अव्वल, मुकद्दमा पृ० ८।

पुरदर्द, पुरमाने, पुरअसर और पुर शौकत अल्फाज थे। किसी ने औरतों की जबान समझकर इन अल्फाज के गले पर छुरी फेरी, किसी ने हिंदी के ठेठ मुहावरे जानकर तसलीम करने से पहलू-तही फरमाई। अगरचे एक ज़माना में हमारा भी यही हाल था कि हिंदी जबान न जानने के सबब हिंदी अल्फाज को खातिर में न लाते और उनकी वाक़यी दाद न देते थे। लेकिन जबसे हमने लुग़ात की तहकीक में क़दम रखकर हिंदी से वाकफियत पैदा की तो देखा कि एक जहालत का परदा था जो हमारी आँखों से उठ गया और जान लिया कि दर हक़ीक़त यह एक जादू भरी जबान है। इसका जो गीत और बयान है बड़ा ही पुर असर और जीशान।"[1]

याद रहे यह उसी सैयद अहमद देहलवी की अनुभूति है जिसके बाप दादे मुगलों के पुरोहित रहे और जिसकी 'फ़रहंग' आज भी 'हिंदुस्तानी' को रीढ़ समझी जा रही है। यह उसी 'अरबसरा' का एक सितारा है जिसे अकबर की माँ ने अरबों के लिये बसाया था। उसपर जहालत का परदा कैसे छा गया—यह एक भेद-भरी बात है। आशा है 'उर्दू'[2] की कहानी में उसका भंडाफोड़ भलीभाँति हो सकेगा। यहाँ तो इतना ही जान लीजिए कि बाबरी सपूतों की अवस्था अब यह है कि हिंदी को 'ग़लीज़' और जाने क्या क्या समझते हैं। जब बादशाहत न रही

१—फ़रहंगे आसफ़िया वही, सबब तालीफ़, पृष्ठ २३।

२—देखिए 'उर्दू का रहस्य', नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

तब जबान की सनक सवार हुई और वो उर्दू का मरसिया पढ़ते पढ़ते यहाँ तक लिख मारा कि

"ज़बाने उर्दू का था जो क़ुरआँ तो मसहफ़ी उसके मसहफ़ी थे
ग़लीज़ लफ़्ज़ों से मंतरों से भरी है वह ही ज़बाने उर्दू ॥"

जनाब 'अरशद' गोरगानी के उर्दू मरसिया को पढ़ें और देखें कि किसी ने कितना ठीक कहा है कि

"बूड़ा वंश कबीर का, जन्मे पूत कमाल ।"

१—फरहंगे आसफिया, जिल्द चहारम, तकारीज, पृष्ठ ८५६ ।

नागरीप्रचारिणी सभा काशी, द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

(नोट—छूटी हुई संख्याओं की पुस्तकें अप्राप्य हैं)

मनोरंजन पुस्तकमाला

आदर्श जीवन 1)
आत्मोद्धार „
१ गुरुगोविन्दसिंह „
४, ५, ६ आदर्शहिन्दू भाग
१, २, ३ 1) प्रति भाग
८ भीष्म पितामह „
११ लाइटपोल „
१२ कबीर वचनावली „
१५ मितव्यय „
१६ सिक्खों का उत्थान और पतन „
१७ वीरमणी
१८ नेपोलियन बोनापार्ट „
१९ शासन-पद्धति „
२२ महर्षि सुकरात „
२३ ज्योतिर्विनोद „
२५ सुन्दरसार „
२८ कृषिकौमुदी „
३६ रामचंद्रिका „
३८,३९ हिंदी निबंधमाला १, २,
1) प्रति भाग
४० सूरसुधा 1)
४८ सदैशास्त्र भाग ३ 1)
४९ प्राचीन आर्य वीरता 1)
५० रोम का इतिहास „
५१ रसखान और घनानंद „
५२ मानसरोवर और कैलास „
५३ बालमनोविज्ञान „

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला

२ ज्ञानयोग खंड २ 2॥)
३ करुणा 3)
४ शशांक 2)
५ बुद्ध चरित 2॥)
६ मुद्रा शास्त्र 2)
७ अकबरी दरबार भाग १ 2॥)
८ पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास 2)
९ हिंदुस्तानवर्ष भाग १ 3॥)
१० अकबरी दरबार भाग २ 3॥)
११ कर्मवाद और जन्मांतर 2॥)
१२ (क) हिंदीसाहित्य का
इतिहास 5)
(ख) „ „
(पंजाबसंस्करण) 4)
१३ हिंदी रसगंगाधर भाग १ 3॥)
१४ हिंदी गद्यशैली का विकास 2)
१५ अकबरीदरबार भाग ३ 2)
१६ हिंदी रसगंगाधर भाग २ 3॥)
१७ सोवियतभूमि 5)

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

१ चीनी यात्री फाहियान का यात्रा विवरण १)
२ चीनी यात्री सुङ्गयुन का यात्रा विवरण १)
३ सुलेमान सौदागर १।)
४ अशोक की धर्मलिपियाँ २)
५ हुमायूँ नामा १॥)
६ प्राचीनमुद्रा २)
७ मुहणोत नैणसी की ख्यात भाग १ ३॥)
८ मौर्य कालीन भारत २)
९ मआसिरुल उमरा भाग १ ४)
१० बुंदेलखंडका संक्षिप्तइतिहास३)
११ मुहणोत नैणसी की ख्यात भाग २ ४)
१२ अंधकारयुगीन भारत ३॥)
१३ मआसिरुल उमरा भाग २ ४)
१४ मध्यप्रदेश का इतिहास ३॥)

बारहट बालाबख्श राजपूत-चारण पुस्तकमाला

१ बाँकीदास ग्रंथावली भाग १॥)
२ बीसलदेवरासो ॥)
३ शिखर वंशोत्पत्ति ॥।)
४ बाँकीदासग्रंथावली भाग २ ॥।)
५ प्रजनिधि ग्रंथावली १)
६ ढोला मारूरा दूहा ४)
७ बाँकीदासग्रंथावली भाग ३ १।)
८ रघुनाथरूपक गीतांरो २)

देव पुरस्कार ग्रंथावली

१ भारतीय मूर्तिकला १),१।)
२ भारत की चित्रकला १),१।)

नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला

१ भक्तनामावली ॥=)
२ चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान ।)
३ सुजान चरित्र २)
४ पृथ्वीराजरासो ५०)
५ छत्रप्रकाश ॥।)
७ हम्मीरहठ ।।)
१३ हम्मीररासो १।)
१४ दादूदयाल के शब्द ॥।)
१६ हिम्मतबहादुर विरदावली ॥)
१७ भूषण ग्रंथावली १)
२१ चित्रावली १।)
२२ अनन्य ग्रंथावली ≈)
२३ परमालरासो २)

२५ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली १)
२६ खुसरो का हिन्दी कविता ॥)
२७ प्रेमसागर १॥)
२८ दोहावली ।-)
२९ गीतावली १)
३० कवितावली ॥=)
३१ जायसी ग्रंथावली २।)
३२ तुलसी ग्रंथावली भाग १ २)
३३ कबीर ग्रंथावली ३)
३४ रानी केतकी की कहानी ।)
३५ सूरसागर द्वितीय खंड ५)
सूरसागर म० ७ १)
३६ कीर्तिलता १)

महिला पुस्तकमाला

१ वनिता विनोद ॥=)
३ परिचर्या प्रणाली ॥।)
४ सरल व्यायाम ।=)
७ स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा १)

प्रकीर्णक पुस्तकमाला

१ कालबोध E)
२ हरिश्चंद्र काव्य E)
३ महाराणा प्रताप ॥)
७ यूनान का इतिहास ॥।)

---

८ राज्य प्रबंध शिक्षा
९ सत्य हरिश्चन्द्र नाटक ।=)
१० बाल शिक्षा ॥)
११ भारत दुर्दशा -)।
१२ अन्योक्ति कल्पद्रुम ।=)
१६ संक्षिप्त हिंदी व्याकरण ॥।=)
१७ मध्य हिंदी व्याकरण ॥)
१८ प्रवेशिका पद्यावली ।॥)
१९ प्रथम हिंदी व्याकरण ।)
२२ महादेव गोविंद रानाडे ।॥)
२३ भौतिक विज्ञान (कोष) ॥।)
२४ रसायन शास्त्र ,, ॥=)
२५ गणित शास्त्र ,, ॥।)
२६ ज्योतिष विज्ञान ,, ॥)
२७ वैद्युत शब्दावली ,, १)
२९ गोस्वामी तुलसीदास १।)
३० तुलसी हाईस्कूल कोर्स १)
३१ ३२ हिंदी पद्यपारिजात १,२ ॥।), १)
३३ पद्यपरिजात ॥।)
३५ पंजाब की सर्वे रिपोर्ट १)
३६ आयुर्वेद निदान समीक्षा =)
३८ नियमन और आगमन -)
३९ वोपदेव =)
४२ भाषा E)॥ -